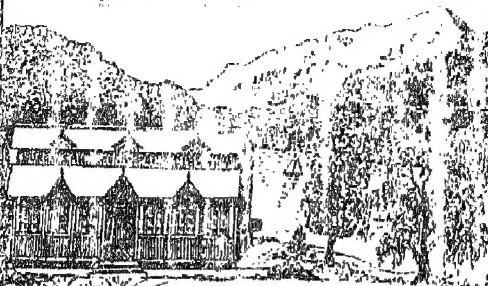



L. Sah

नया मार्ग

(कहानी-संग्रह)

सत्यप्रकाश संगर

विजय प्रकाशन
भोपाल : अकोला

द्वितीय संस्करण, १९५६

मूल्य : दो रुपये चार आने

प्रकाशक
विजय प्रकाशन, भोपाल
तथा
१६५, जथारपेठ, अकोला।

मुख्य वितरक
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली।

4525

मुद्रक
श्री गोपीनाथ सेठ,
नवीन प्रेस, दिल्ली।

विषय-सूची

प्रकाशवती की पुण्य स्मृति में

परिचय

संगर जी की 'नया मार्ग' शीर्षक कहानियाँ हिन्दी की अन्य कहानियों के एक दोष से मुक्त हैं। हम हिन्दी-लेखकों का यह दोष या कमज़ोरी है कि हमारी बोलचाल की भाषा में और लिखने की साहित्यिक भाषा में बहुत अन्तर रहता है। हिन्दी को लिखने की भाषा बनने का सौभाग्य बहुत पुराना नहीं है, इसलिए उसके मँज पाने में कुछ अड़चनें आ रही हैं। संगर ने इस अड़चन को मिटाने में बहुत योगदान दिया है। इसी बात को दूसरे शब्दों में दुहराया जा सकता है कि 'नया मार्ग' की कहानियाँ आडम्बरहीन भाषा में लिखी गई हैं। आडम्बर का अमल न होने के कारण इनमें स्वाभाविक वेग है और वे विश्वास उत्पन्न करती हैं।

जान पड़ता है कि लेखक ने कहानियाँ केवल आत्मतोष के लिए लिख डाली हैं। परन्तु आत्मतोष या स्वान्तः सुखाय का सिद्धान्त समाज के प्रति जिस उपेक्षा का द्योतक है वह संगर की कहानियों में नहीं है। इन कहानियों की सबसे बड़ी सार्थकता यह है कि ये स्वाभाविक रूप से सप्रयोजन हैं। ऐसा जान पड़ता है कि लेखक समाज-उद्धार का बीड़ा उठाये बिना या ऐसी सेवा का डंका पीटे बिना समाज की विषमताओं या अन्तर्विरोधों को एक सजग कलाकार के रूप में अनुभव करता है और आडम्बरहीन भाषा में कह डालता है। यदि इसी ढंग की और कहानियाँ लिखी जायँ तो हमारी साहित्य की भाषा और साहित्य के उद्देश्य दोनों ही समस्याओं के सुलझाव में काफी सहयोग मिलेगा।

यशपाल

शिकार

शिकार

"रहीम !" साहब ने खाने की मेज़ पर से पुकारा।

"जी हुज़ूर !"

"तुरन्त घोड़ा तैयार करो।"

"साहब, घोड़ा……" रहीम डरते-डरते बोला।

"और क्या गधा ?" साहब ने टमाटर का एक टुकड़ा मुँह में रखते हुए कहा।

"साहब, घोड़ा तो यहाँ नहीं है।"

"और यहाँ क्या है ?"

"साहब !…"

"साहब के बच्चे, मैं पूछता हूँ घोड़ा कहाँ चला गया ?"

"छोटे साहब ले गए हैं, हुज़ूर !" वह बोला।

'छोटे साहब ले गए हैं, हुज़ूर' वाक्य को दुहराते हुए साहब बोले, "कहाँ ले गए हैं ?"

"शिकार के लिए।"

"शिकार के लिए !" विस्मय और क्रोध से साहब की आवाज़ ज़रा तेज़ हो गई थी। "सुन लिया बेटे का हाल ?" सामने बैठी लीलावती की ओर देखकर वह बोले, "बिना आज्ञा घोड़ा लेकर शिकार खेलने चला गया, यह सब तुम्हारी नरमी के कारण है। तुमने अकारण सिर चढ़ा रखा है उसे। अपने लाड से उसका मिजाज बिगाड़ रखा है। नवीं कक्षा

पास नहीं कर सका, किन्तु ठाठ हैं नवाबों जैसे। बारह दर्जन कमीज़ तो शायद किसी राजकुमार के पास भी न हों। दर्जनों नेकटाइयाँ ऐसे रखी हैं जैसे दूकान खोलनी हो। हमने बीस वर्ष की नौकरी में इतने सूट देखे तक नहीं, जितने यह पहनते हैं। हम तो रात को सोते समय बनियान पहनकर निर्वाह करें और जनाब को नित नये सूट के बिना नींद नहीं आती। जूतों को ही ले लीजिए, जैसे बाटा के एजेंट हों। पाउडर और क्रीम, कंघियों और शीशियों, लवेंडर और तेल के लिए दो मेजें भी पर्याप्त नहीं होतीं। यदि इनका सारा सामान नीलाम किया जाय तो उस रुपये से एक अच्छी कोठी खरीदी जा सकती है। यह सब तुम्हारा दोष है।"

"भला मेरा क्या दोष इसमें ?" लीलावती ने दबी ज़बान से कहा।

"चुप रहो !" साहब गरज उठे।

उनकी गर्जना सुनकर सतीश और प्रमिला दोनों बच्चों ने खाना बन्द कर दिया और भयभीत नेत्रों से वे अपने पिता की ओर देखने लगे। लीलावती भी खाने में ध्यान न दे सकी। पति की क्रुद्ध मुद्रा की ओर घबराहट से देखने लगी। वह कह रहे थे—

"तुमने सारा घर चौपट कर दिया। यदि तुम अपने इस 'होनहार' को काबू में रखतीं तो आज यह हालत न होती। मुझे दौरे पर जाना है और जनाब घोड़ा लेकर चल दिए। क्या जाने से पहले उसने तुमसे पूछा भी था ?"

"मुझसे ? मुझ····से ?" घबराहट के मारे लीलावती उत्तर भी न दे सकी। उसे चुप देखकर साहब फिर भड़के, "हाँ पूछा क्यों न होगा ? मगर तुम्हें लाडले के सामने 'ना' कहने में झिझक आई होगी ? तुम्हारे बाप का घोड़ा था न !"

लीलावती का आहत अभिमान अधिक सह न सका। अपने हृदय का सारा साहस समेटकर इस बार लीलावती बोली, "किन्तु मेरे बाप को आप क्यों घसीटते हैं ?" और सिसक-सिसककर रोने लगी।

लीलावती के आँसुओं ने साहब का क्रोध शान्त कर दिया। वह अपनी ज्यादती महसूस करने लगे, किन्तु उन्होंने सहज ही परास्त होना स्वीकार नहीं किया। स्वर की उग्रता ज्यों-की-त्यों रखते हुए लापरवाही से बोले—

"इन्हें ज़रा-सी सच्ची बात कह दो कि बस आँसू बहाने लगेंगी, जैसे मैं इन आँसुओं से डर जाऊँगा।"

"तू क्या ताक रहा है रे ?" इस बार का निशाना सतीश था, "खाना क्यों नहीं खाता ?"

पिता का लक्ष्य सहसा अपनी ओर देखकर सतीश घबरा उठा। जल्दी में उसने खाने की ओर हाथ बढ़ाया तो हाथ पानी के गिलास से जा टकराया। गिरते हुए गिलास को सँभालने में हाथों का जो एक हलका झटका लगा तो पानी का लोटा लुढ़क गया और पानी कटोरियों और थालियों में तैरने लगा।

साहब बहादुर अब अपने आपे में नहीं रह सके। उनका गुस्सा भोले सतीश पर उतर आया। बेचारी लीलावती में भला इतना साहस कहाँ था कि वह पुत्र की सहायता करती। वह अपनी खैर मना रही थी। इधर सतीश के बाद प्रमिला का नम्बर आया। अभी तक इस अकाण्ड ताण्डव को देखकर वह इतनी सहम-सी गई थी कि बोल भी न सकी। उसकी चुप्पी देखकर साहब ने उसे डाँटना शुरू किया, "तू क्यों गुमसुम बैठी है ? भूख नहीं है तो यहाँ बैठने से क्या प्रयोजन ? व्यर्थ नष्ट करने को हमारे पास अन्न नहीं है। उठ जा यहाँ से, नहीं तो मार-मारकर कचूमर निकाल दूँगा।" फिर लीलावती को सम्बोधित करके बोले, "तुम लोगों ने तो नाक में दम कर रखा है।"

अकस्मात जाने उन्हें क्या सूझी और उन्होंने पुकारा, "रहीम !"

"हुज़ूर !"

"हमारी बन्दूक निकालो। हम पैदल ही चलेंगे।"

"साहब, छोटे साहब बन्दूक भी तो साथ ले गए हैं।"

"बन्दूक भी ले गए हैं ? उनकी अपनी बन्दूक कहाँ गई ?"

"वह उनके मित्र गजेन्द्र के पास है।"

"अपनी बन्दूक उसने गजेन्द्र को क्यों दे दी ? तूने मुझे पहले क्यों नहीं बताया ? बेवकूफ कहीं का।" वह चिल्लाकर बोले, "खैर आने दो उस बदमाश को, उसी बन्दूक से उसके प्राण निकाल लूँगा। किन्तु बच तुम भी नहीं सकते। यह सब तुम्हारा ही रचा हुआ षड्-यंत्र है।"

वह फिर लीलावती पर बरस पड़े, "तू खड़ी क्या देखती है ? दूर हट जा सामने से। कैसे दुष्टों से पाला पड़ा है ! राम राम !!"

लीलावती आँखें पोंछती हुई दूसरे कमरे में चली गई। सतीश का कलेजा दहल गया। उसे निश्चय हो गया कि माँ के पश्चात् बन्दूक उसी पर उठेगी। वह जानता था कि पिताजी पक्के शिकारी हैं। उनका निशाना अचूक होता है। वह काँप उठा और एक कोने में दुबककर बैठ गया।

प्रमिला को अगले दिन गुड़ियों का विवाह रचाना था। वह सखियों को आमन्त्रित कर चुकी थी। अपनी मृत्यु की चिन्ता उसे उतनी न थी जितनी कि गुड़ियों के विवाह की। काश, वह सखियों को बता सकती कि विवाह रचाना सम्भव न होगा ! उस समय तक तो बन्दूक अवश्य चल चुकी होगी, और.....!

सहसा घोड़े की टाप सुनाई दी। सारे वातावरण में संजीदगी भरते हुए हरीश आ पहुँचा। वह निकर पहने था। सिर पर हैट था, कन्धे पर बन्दूक और कमर में कारतूस की पेटी। घोड़े की पीठ पर एक मृग बँधा था। उतरते ही हरीश साहब की ओर लपका और बोला, "पिता-जी, देखा आपने, मैंने कितना बड़ा मृग मारा है !"

साहब बहादुर मृग की ओर बढ़े और उसे देखते ही हर्षावेश में बोले—

"शाबाश बेटा, खूब शिकार हाथ लगा ! शाबाश !"

"क्या तुमने इसे स्वयं मारा है ?" स्वर में आश्चर्य भरकर उन्होंने फिर पूछा।

"और नहीं तो किसने मारा, पिताजी, घोड़े को पेड़ से बाँधकर मैं एक झाड़ी में छिप गया। उसी समय यह अभागा उधर आ गया। मैंने लक्ष्य बाँधा और एकदम गोली दाग दी। पहली गोली से तो नहीं गिरा, किन्तु दूसरी गोली खाकर तो वह हिल भी नहीं सका। कुछ देर तड़पा और फिर ठण्डा हो गया।"

"किन्तु बेटा, तुम्हें अकेले नहीं जाना चाहिए था। रहीम को भी साथ ले गए होते।"

"डर किस बात का था पिताजी ! मैं तो अकेला बिलकुल नहीं डरता।"

"तुम बड़े साहसी हो बेटा !"

साहब का क्रोध काफूर हो गया। बेटे की बड़ी सराहना करते हुए उन्होंने फिर लीलावती को आवाज़ दी, "अजी बाहर तो आओ ज़रा।"

जब वह आ गई तो बोले—

"देखो तो, बेटा कितना बड़ा शिकार मार लाया है ! इस खुशी में कल एक बड़ी-सी पार्टी दी जायगी। रहीम, रामू से कह दे कि छोटे साहब को चाय पिलाकर उनके स्नान का प्रबन्ध करे। अरे सतीश, ओ प्रमिला, बाहर आओ। देखो तुम्हारे भैया तुम्हारे लिए कितनी अच्छी सौगात लाए हैं। अरे रामू, अलमारी में से मिठाई तो निकाल ला।"

वह हर्ष से विह्वल हो बच्चों और नौकरों में मिठाई बाँटने लगे, जैसे हरीश ने विक्टोरिया क्रास जीत लिया हो। पहले वह क्रोध से पागल हो रहे थे और अब हर्ष-विभोर से। कितने विपरीत और परस्पर-विरोधी थे ये दोनों परिवर्तन। जिसने पहले उनकी गुस्से से काँपती आवाज़ सुनी थी उसके लिए उनका वह हर्ष-विह्वल स्वर एक असम्भव

कल्पना थी।

रहीम घोड़े की पीठ से मृग खोलने में व्यस्त था और किसी चलतू गीत की एक कड़ी गुनगुना रहा था।

सहसा अगले दिन आयोजित निमन्त्रण की बात याद आते ही उसके मुँह में पानी भर आया।

आशा-दीप न बुझने पाए

आशा-दीप न बुझने पाए

"किस विचार में डूबी हुई हो ?" उसने पूछा।

"किसीको इससे क्या ?" ठुड्डी पर हाथ रखे हुए, दूसरी ओर मुँह करके उसने उत्तर दिया।

"इससे नहीं, विचार से ...।" उसने ठुड्डी को छूते हुए कहा।

"किसीको हमारे विचारों में दखल-अन्दाजी करने का कोई अधिकार नहीं," वह मुस्कान छिपाते हुए बोली।

"काश, ऐसा ही होता !" उसने निःश्वास छोड़ते हुए कहा।

"यह क्यों ?" वह सहसा घबराकर बोली, "यह तुम क्या कह रहे हो ?"

"जो-कुछ कह रहा हूँ, सच कह रहा हूँ। तुम नहीं जानतीं, आजकल मुझ पर क्या बीत रही है ?"

"मैं क्या जानूँ," वह साँस रोककर बोली।

"ठीक कहती हो, तुम क्या जानो।"

सहसा वह ठहाके से हँसी, किन्तु वह उसी तरह बैठा रहा जैसे उस हँसी का उस पर कुछ असर ही न हुआ हो।

"आज हम शूटिंग देखने चलेंगे," वह अचानक बोली, जैसे उसे कुछ सूझी हो।

एक पिक्चर बन रही थी। प्लाट वही था जो अक्सर होता है, किन्तु जो जीवन में नहीं होता। शूटिंग देखते-देखते वह बोला—

"शुक्र है हम फिल्म एक्टर नहीं बने।"

"हम फिल्म एक्टर क्यों बनें ? जिन्दगी की एक्टिंग में सुख-दुःख के उठने वाले ज्वार-भाटों का अंतरंग आनन्द वहाँ कहाँ ?"

"क्या कहा तुमने ?"

"कुछ नहीं।"

"तुम ठीक कहती हो। हमें जिन्दगी की एक्टिंग का लुत्फ़ उठाना है। चित्रपट पर तो हर वह बात बताई जाती है जिसका यथार्थ जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता।"

"एक एक्ट्रेस हर पिक्चर में एक नये एक्टर से प्रेम करती है। उसका प्रेम अत्यन्त क्षणिक होता है, परन्तु हमारा प्रेम अमर होगा।" वह सुदूर आकाश की ओर देखती हुई कहने लगी।

"यह कैसे सम्भव है, इन्दू ?" वह हताश होकर बोला, "पतझड़ के पश्चात् वसन्त आता है और जिस संसार में वसन्त आता है वहाँ पतझड़ की भी स्वाभाविक योजना है। मर्त्यलोक में अमरत्व कहाँ ?"

"तो क्या हमारे प्रेम की दुनिया में पतझड़ आ सकता है ?"

"क्यों नहीं।"

"राकेश, ऐसा मत कहो।"

वह हँस दिया।

"देखो राकेश, मैं तुमसे एक बात पूछना चाहती हूँ।" एक दिन इन्दू ने कहा।

"यदि उत्तर नहीं चाहतीं तो पूछ सकती हो।"

"तुम सदा यों ही टाल देते हो।"

"और आज भी टालना चाहता हूँ।"

"कारण ?"

"चाहे कुछ भी हो।"

"परन्तु यह बात ठीक नहीं।"

"कोई हर्ज नहीं।"

"तुम इतने पाषाण हृदय क्यों हो ?" उसकी आँखों में आँसू तैर रहे थे।

"यदि दण्ड ही देना है तो उचित दण्ड दो।"

"परन्तु यह बात आम हो चुकी है। हर जगह इसकी चर्चा है। हमारे माता-पिता भी इसे अच्छी तरह जानते हैं। वे सहमत भी हैं। मेरे-तुम्हारे बीच अब कोई रुकावट नहीं। केवल......"

"........मैं ही एक रुकावट बना हुआ हूँ। तुम्हारा मतलब यही है न ?"

वह कुछ देर गम्भीर मुद्रा में मौन साधे खड़ी रही।

"हाँ, कहो," उसने ज़ोर देकर कहा।

"........हाँ," वह विनम्रतापूर्वक संकोच के साथ बोली, "परन्तु तुम ऐसा क्यों कर रहे हो ?"

"क्यों ? तुम जानना चाहती हो तो सुनो। मुझे प्रेम और सौंदर्य की पवित्रतम भावना की अवहेलना पसन्द नहीं। विवाह के बाद न मुझमें यह तड़प रहेगी, न तुम्हारी आँखों में यह जादू रहेगा।"

"परन्तु क्या यह जरूरी है कि हमारे जीवन में भी ऐसा ही हो ?"

"अवश्य होगा," उसने उत्तर दिया, "यह आवश्यक है, अटल है। यदि ऐसा न हो तो ज़िन्दगी का नाम ज़िन्दगी न हो।"

"परन्तु ऐसे उदाहरण भी तो हैं जहाँ प्रेम की सात्विक भावना विवाह-पर्यन्त काफ़ूर नहीं हुई।"

"इन्दू, मेरे हृदय में बैठकर तुम स्वयं ही निर्णय कर लो। मैं भी एक आदर्शवादी के सदृश प्रेम के अमरत्व की कल्पना के सहारे जी रहा हूँ, यह जानते हुए भी कि इस नश्वर संसार में अमर प्रेम मृगमरीचिका है। यदि मेरे जीवन की कल्पना को तुम संसार की यथार्थता से टकरा दोगी तो मेरा हृदय टूक-टूक हो जायगा, इन्दू, और ज़ीना दूभर हो जायगा। मेरे लिए तुम्हारा प्रस्ताव असहनीय है।"

"तो इसका मतलब हुआ कि........"

"तुम मतलब निकालना चाहती हो। हर बात का मतलब निकाला करती हो। आओ, कोई और बात करें।"

वह आँचल में मुँह छिपाकर चुपके-चुपके रोने लगी।

अगले दिन जब उनकी फिर मुलाकात हुई, वह बोली—

"आज मेरे मन में तुम्हारे बारे में अजीब विचार आये।"

"वह क्या ?" वह पूछने लगा।

"यही कि तुम अपनी योग्यता और अपने आदर्श पर बड़े गर्वित हो, परन्तु दूसरे ही क्षण इसका प्रतिवाद हो गया।........"

"कि ऐसा मैं नहीं हूँ। परन्तु यह तुम्हें किस पंडित ने बतलाया कि मैं ऐसा नहीं हूँ।"

वह लज्जित हो गई। कुछ क्षण पश्चात् बोली—

"राकेश, क्या हम सदा इसी तरह नहीं रह सकते ?"

"इस जीवन में तो कठिन है।"

"मृत्यु के बाद ?"

"शायद सम्भव हो।"

"तो चलो एक साथ मृत्यु का आलिंगन कर लें।"

वह हँस पड़ा और बोला—

"जीवन और मौत पर हमारा इतना वश नहीं।"

"खयाल कर लीजिए कि है।"

वह फिर हँस पड़ा।

"आखिर तुम्हें किस तरह जीतूँ ?" वह तड़प उठी।

"क्या तुम्हें अपनी जीत पर शक है ?"

"तुम इसे अपनी हार मानते हो ?

"बिल्कुल।"

"तो फिर........"

"किन्तु इन्दू !" वह बात काटकर बोला, "हार दिल से होती है, शरीर से नहीं। दिल तुम्हारा है, मरते दम तक तुम्हारा ही रहेगा

और शायद उसके बाद भी ।"

"बातें बनाना कोई तुमसे सीखे," वह बिगड़कर बोली, "तुम साफ़-साफ़ क्यों नहीं कह देते ?"

"क्यों ?" वह मुस्करा दिया ।

"क्या ? क्या ?" वह क्रुद्ध होकर बोली ।

"क्रोध करके तुम मुझ पर ज़ुल्म ढा रही हो, परन्तु तुम्हारा ज़ुल्म सहना मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ ।"

"अच्छा छोड़िए । बातें बनाने से क्या लाभ ?"वह क्षुब्ध हो गई ।

"इन्दू," उसने दुखित हृदय से कहा, "सचमुच तुम मेरी हालत नहीं समझतीं । तुम नहीं जानतीं कि मेरे हृदय पर केवल तुम्हारा ही शासन है । मैं इस प्रेम को जीवित रखने की प्रतिज्ञा कर बैठा हूँ । मैं इस अग्नि को प्रज्वलित रखना और इस अभिलाषा को निरन्तर बनाये रखना चाहता हूँ । विवाह के बाद यह किस्सा खत्म हो जायगा, महत्त्वाकांक्षा तथा विचारादर्श का जीवन समाप्त हो जायगा । वह मेरी मृत्यु होगी, किन्तु मैं जीवित रहना चाहता हूँ ।"

"किन्तु किसी दूसरे के साथ विवाह हो जाने के बाद तुम्हारा मुझ पर क्या अधिकार रहेगा ?"

"अधिकार ही तो मैं रखना नहीं चाहता । तुम्हें प्राप्त कर लेने के बाद मेरे लिए प्राप्य ही क्या रहेगा ? मैं तुम्हें आदर्श बनाये रखना चाहता हूँ ।"

अपने विवाह के दिन सुन्दर आभूषण और वस्त्रों से सुसज्जित हो जब उसने दर्पण देखा तो वह स्वयं अपने को न पहचान सकी । उसने दिल में सोचा—कितने गर्वित थे वे अपने सौन्दर्य और विचार-आदर्श पर, आज सामने आयें तो खुली मात दे दूँ ।

वह उसका अभिमान चूर करने को आकुल हो उठी । इस आकुलता ने सहसा उसमें उदासी भर दी । उदासी आँसुओं को दिल से उठाकर

आँखों में ले आई।

ठीक इसी समय राकेश ने कमरे में प्रवेश किया।

राकेश को देख वह सन्नाटे में आ गई। राकेश का सौन्दर्य अनाहत था। विचारादर्शमयी राकेश की मनोहारिणी प्रतिमा इन्दू के हृदयपटल पर सजीव हो उठी। वह झेंप गई।

राकेश के मुखमण्डल पर एक सूखी हँसी नाचने का अनायास प्रयत्न कर रही थी। वह बोला—

"आज मैं अत्यन्त हर्षित हूँ।"

वह खामोश निगाहों से उसके चेहरे पर हर्ष खोजती रही। इन्दू की निगाहें राकेश के व्यथित चेहरे पर केन्द्रित हो गईं और उसके दिल के भीतर प्रविष्ट होने का एकमात्र यत्न करती रहीं। तभी वह रो पड़ा। उसकी आँखों से आसुओं की झड़ी लग गई।

"क्या यह हर्ष टपक रहा है ?" उसने अपने रेशमी दुपट्टे के आँचल से उसकी आँखें पोंछते हुए कहा।

"क्या पागल हो गई हो ?" उसने पीछे हटते हुए कहा। "सचमुच मैं बहुत प्रसन्न हूँ।"

फिर बोला—

"मुझे तुम्हारे विवाह की सूचना कल प्रातः ही मिली थी और मैं उसी समय घर से चल निकला, केवल तुमसे मिलने के लिए। अच्छा अब मैं चलता हूँ। अब जीवन में आनन्द आयेगा। दिल तुम्हारी याद में तड़पेगा। तुम मिल न सकोगी। दिल और भी व्याकुल होगा। परन्तु यही तो प्रेम है। अच्छा........" और वह मुस्कराता हुआ बाहर निकल गया।

भूख

भूख

हम वहाँ रात के ग्यारह बजे पहुँचे। एक सिपाही ने हमें उस पड़ाव का रास्ता बतलाया जहाँ खैमे लगे थे और जहाँ अफसरों के ठहरने का प्रबन्ध था। इतने में एक साहब आ धमके और हमारी गाड़ी को रोककर बोले कि तुम्हारे खाने का पूरा-पूरा प्रबन्ध हो चुका है और फिर कार में बैठकर ड्राइवर को रास्ता बतलाने लगे। एक तम्बू के पास पहुँचकर कार रुकी। हम नीचे उतरे, मार्गदर्शक महोदय ने विदा ली, हमने सामान खैमे में रखवाया और बिस्तर कराया।

कुछ देर पश्चात् हैट लगाए, छड़ी हाथ में सँभाले, एक दूसरे साहब खैमे में आये और घूरते हुए बोले—

"आपका नाम पूछ सकता हूँ?"

"उससे आपको विशेष लाभ तो नहीं होगा। वैसे मैं शिक्षा विभाग से आया हूँ।"

"ओह!" जैसे आपको यह बात पसन्द नहीं आई। "मैंने सोचा आप·······!"

"जज होंगे!" मैंने कहा।

"नहीं···खैर····!" फिर अपने लहजे को बदलकर बोले, "माफ कीजिएगा। यह खैमा आपको खाली करना होगा।"

"क्यों?"

"यहाँ एक पुलिस इंस्पेक्टर साहब आ रहे हैं।"

"मैं खैमा खाली करने को तैयार हूं, परन्तु एक शर्त पर।"

"वह क्या ?"

"दूसरे खैमे में जाने के बजाय मैं वापस हैड क्वार्टर चला जाऊँगा।"

"आप शायद नाराज़ हो गए।"

"कदापि नहीं।"

"खैर, आप यहीं रहिए, उनके लिए मैं दूसरा प्रबन्ध कर दूंगा। गुड नाइट।"

"गुड नाइट।"

आप एस० डी० ओ० थे।

"साहब, खाना लाऊँ ?" चपरासी ने अन्दर आकर पूछा। वह मेरा खाना साथ लेता आया था।

"नहीं, तुम खा लो।"

"जी हुज़ूर !"

दूसरे दिन प्रातःकाल—

डॉक्टर साहब, जिन्होंने मुझे खैमे तक पहुँचाया था, मिलते ही बोले, "आप अपने खाने का प्रबन्ध स्वयं न करना। मेला समिति का अपना प्रबन्ध है और मैं समिति का सदस्य हूँ। मैंने आपका नाम अधिकारियों की लिस्ट में दर्ज करा दिया है। मन्त्री महोदय के भाषण की समाप्ति के बाद खाना होगा। मैं आपको बुलवा भेजूंगा।"

इनसे यह भी मालूम हुआ कि साथ वाले खैमे में कलक्टर साहब ठहरे हुए हैं। चूंकि कलक्टर साहब का अभिनन्दन करना आवश्यक था, इसलिए मैं उनके खैमे पर हाज़िरी देने निकला। खैमे के बाहर एक साहब खड़े थे। आधी बाँह की कमीज़ और पतलून पहने थे और पाँव में रबर के चप्पल। उनके मुँह में सिगरेट था। ऐसा प्रतीत होता था कि कोई बाबू नौकरी की तलाश में कलक्टर साहब से मिलने आए हैं और अपनी 'टर्न' की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

"क्या साहब आराम कर रहे हैं, बाबूजी ?" मैंने उनसे पूछा ।

"आपको किससे मिलना है ?" वह सिगरेट का कश लगाते हुए बोले ।

"कलक्टर साहब से ।"

"फ़रमाइए ।"

"अगर आप कलक्टर होते तो फ़रमा भी देते ।" मैंने हँसकर कहा ।

"समझ लीजिए मैं ही हूँ ।" वह बोले ।

मैं विस्मित हो उठा । अंग्रेजी राज्य की छत्रच्छाया के उठ जाने के बाद इस पद पर क्या-क्या नहीं बीता । अंग्रेजी सत्ता के साथ वह समय भी बीत गया जब ऐसे वेषधारी सरल व्यक्ति के लिए छोटी साहबी, यहाँ तक कि पटवारीगिरी भी, कदाचित् सम्भव न हो पाती । हम पाश्चात्य मूल्यांकनों से शनैः-शनैः विमुख होते हुए सरल जीवन व उच्च विचार के एशियायी आदर्श की ओर बढ़ते जा रहे हैं ।

"माफ़ कीजिए," मैंने कहा, "मैं····"

"कोई बात नहीं । क्या मैं पूछ सकता हूँ आपके बारे में ?"

"मैं संचालक शिक्षा विभाग·······"

"तो आप हैं डॉक्टर सिन्हा !" और जलते हुए सिगरेट को दूसरे हाथ में लेकर दायाँ हाथ मेरी ओर बढ़ाकर जोर से हाथ मिलाते हुए बोले, "हलो डॉक्टर सिन्हा, हाऊ डू यू डू ?"

हाथ तो मैंने मिला लिया, परन्तु साथ ही कहा, "आपको गलत-फ़हमी हुई है, डॉक्टर सिन्हा तो डी० पी० आई० हैं । मैं तो उनका असिस्टेण्ट हूँ ।"

"इजण्ट मैटर । इट्स ऑल दि सेम ।" फिर बोले, "आप ठहरे कहाँ हैं ?"

"पास वाले टेंट में ।"

"बहुत खूब ।"

मैंने चलने की आज्ञा माँगी ।

"ऑलराइट डॉ० सिन्हा, फिर मिलेंगे," उन्होंने कहा।

"परमात्मा वह घड़ी न लाए।" मैंने अपने दिल में कहा और अपने खैमे की ओर बढ़ा।

"ज़रा ठहरिए," पीछे से उनकी आवाज़ आई। मैं उलटे कदमों लौटा।

"आपके खाने का प्रबन्ध हो गया ? न हुआ हो तो एस० डी० ओ० साहब से कहूँ ?"

"जी नहीं। हो गया।"

"बहुत खूब।"

मेला स्वागत समिति के अध्यक्ष ने एक लम्बे स्वागत-भाषण में मन्त्री महोदय की सर्वांगीण कीर्ति का गुणगान किया और उन्हें मेला समिति की ओर से अस्वाभाविक हर्षध्वनि के बीच मानपत्र समर्पित किया। कलक्टर साहब ने भी आधे घण्टे तक अपना लिखा हुआ भाषण पढ़ा। जिला कांग्रेस समिति के प्रधान इस सुनहरे अवसर से लाभ उठाने में क्यों पीछे रहते ! लगभग एक घण्टे तक वह भी मञ्च पर अपनी वक्तृत्व-कला का प्रदर्शन करते रहे। मेला समिति के प्रभावशाली सदस्य श्री छोटूराम ने आधा घण्टा लिया। तदनन्तर मन्त्री महोदय खड़े हुए तो उन्होंने लगभग पौने दो घण्टे तक एक लम्बा-चौड़ा भाषण दिया जिसमें गृह-उद्योगों के महत्त्व के साथ कोरिया की लड़ाई का तारतम्य बाँधा गया था व प्रधान मन्त्री की शांति-प्रसारिणी विदेश-नीति का समन्वय साम्यवाद, साम्राज्यवाद, भौतिकवाद, अध्यात्मवाद, पूँजीवाद, श्रमवाद, राष्ट्रवाद, संयुक्तराष्ट्रवाद व अन्तर्राष्ट्रवाद आदि अनेक वादों से करते हुए 'अधिक अन्न उपजाइए' व 'पौधे लगाइए' के नारों को भी स्थान दिया गया था। जनता की उपस्थिति यद्यपि अति ही संक्षिप्त थी, तथापि वक्तागण वक्तृत्व-कला के साथ अन्याय नहीं करना चाहते थे। आत्मतुष्टि ही तो कला का उद्देश्य है न ! जन-सेवा, जन-सम्पर्क, जन-जागरण तो आज की दुनिया में राजनीतिक नारों

की सीमा पा चुके हैं।

उपस्थित जनता की मुद्रा से ऐसा प्रतीत होता था कि किसी ने वक्तृताओं को समझने की चेष्टा नहीं की और ऐसा भी लगा कि वक्ता-गण स्वयं भी समझकर बोलने की अपेक्षा धारावाहिक बोलने के लिए प्रयत्नशील थे। पाँच घण्टे तक खाली पेट भाषण सुनने पड़े, जिनमें तथ्य के सिवाय सब-कुछ था। भाषणों के बाद मन्त्री महोदय, जिला अधिकारी, तहसील अधिकारी, मेला-प्रबन्धकों तथा तमाशबीनों के साथ प्रदर्शनी देखने चले गए। मेरे लिए भूख के मारे चलना कठिन हो रहा था, किन्तु क्या करता—अफसरों की लिस्ट में मेरा नाम जो लिखा जा चुका था।

प्रदर्शनी में क्या न था? कृषि का स्टॉल, घी का स्टॉल, खादी का स्टॉल, डी० डी० टी० का स्टॉल, गृह-उद्योग की प्रदर्शनी, पशुओं की प्रदर्शनी और न जाने किस-किसकी प्रदर्शनी, भूखे आदमी की स्मरण-शक्ति भी तो काम नहीं करती। हर स्टॉल के सामने पहुँचकर वज़ीर साहब कुछ-न-कुछ फरमाते और दर्शकों को हँसाने का प्रयत्न करते। हँसी की कोई बात न होने पर भी मन्त्री महोदय स्वयं हँस पड़ते। उन्हें हँसता देख अधिकारियों को हँसना होता। मातहत लोगों को भी विवश हँसना पड़ता। साथ चलने वाले उनका अनुकरण करते। भीड़ के लोग एक-दूसरे की ओर देखते जैसे कह रहे हों, "देखा, यों हुआ करता है।"

जब निरीक्षण समाप्त हुआ तो दिन के दो बज रहे थे। पेट में भूख के कारण चूहे दौड़ रहे थे।

अचानक वही डॉक्टर साहब फिर मिले और खाने के बारे में पूछने लगे। उन्हें मेरा कितना ध्यान था! बोले, "आप खैमे में जाकर आराम कीजिए। खाना तैयार होते ही आपको बुलवा लिया जायगा।"

मैं आराम करने के लिए खैमे में चला गया, परन्तु खाली पेट आराम भी तो नहीं किया जा सकता। बिस्तर में लेटकर समर्सेट माम की पुस्तक 'रेज़र्ज एज' पढ़ने लगा। इलियट टैम्पल्टेन के निमन्त्रण का

वर्णन था। उसके जीवन में दावतों का कितना महत्त्व था! वह कैसा भाग्यवान पुरुष था! उसे राजनीति से कोई सम्बन्ध न था और न लम्बे-लम्बे भाषणों से। वह इलेक्शन में भी कभी खड़ा नहीं हुआ, इसलिए उसे न वोटरों की खुशामद करने की जरूरत पड़ी, न फिजूल मज़ाक करके और बनावटी हँसी हँसकर लोगों के दिल बहलाने की। वह न चोरी-छिपे मदिरा पीकर मदिरा-निषेध पर भाषण देता था, न अपने सम्बन्धियों को परमिट दिलाकर ईमानदारी पर लेक्चर करता था। उसकी दावतें विख्यात थीं। दस्तरखान बिछे हुए हैं। नाना प्रकार के खाने सजे हैं। एक, दो, तीन, चार, दस प्रकार का माँस, सब्जियाँ, हलवे, मिठाइयाँ, फल और शराबें। अतिथि खाने की मेज पर बैठे हैं। रकाबियाँ बढ़ाई जा रही हैं।

"यह क्या है?"

"मटन।"

"और यह?"

"कोफ़्ता।"

फिर क़ीमा, कोर्मा, कबाब, पुलाव, ज़र्दा, अंडे, मटर पनीर, आलू, मुर्ग मुसल्लम।

"और यह?"

"दाल।"

"अजी आगे बढ़ाइए। घास पार्टी के सदस्य उस ओर हैं।"

काँटों और छुरियों की झनकारें वातावरण में गूँज रही हैं।

"महबूब, अब तो बस करो।" डैडी ने परामर्श दिया।

"डैडी, अभी से? अभी तो पच्चीसवीं चपाती पर पहुँचा हूँ।"

"शाबाश बेटा!" नन्दा साहब गरदन हिलाते हुए और कोफ्तों की ओर हाथ बढ़ाते हुए बोले, "दूसरों के यहाँ तुम सब अगली-पिछली कसर निकाल लेते हो।"

"खाने-पीने के मामले में दूसरों के घर को हम अपना ही घर

समझते हैं ।''

''इन्हीं कारनामों के कारण तो आपको 'दी गलटंज अनलिमिटेड' का कप्तान बनाया गया है।'' चोपड़ा साहब ने चुटकी ली ।

''आदाब अर्ज,'' कप्तान साहब ने एक सैकंड के लिए अपने दाएँ हाथ को मटन की प्लेट से अलग करते हुए रस्मी धन्यवाद देते हुए कहा—

''बन्दा किस योग्य है ! जो कुछ है टीम ही की बदौलत है ।''

''कहते हैं चंगेज खाँ सालम भेड़ खा जाता था ।''

''और बेग साहब सालम मुर्ग ।''

हा—हा—हा !

सुन्दर वर्दियों में सुसज्जित बैरे इधर-उधर घूम रहे हैं ।

''चौबेजी, अब तो रहम करो ।'' कप्तान साहब ने एक के बाद एक चार गुलाबजामुन मुँह में रखते हुए दोनों हाथ जोड़कर कहा ।

''रहम होगा खैर खैरात में, खाने के मामले में नहीं ।'' अट्टहास के मध्य ममनून साहब बोले ।

खाना समाप्त हुआ तो बड़े भैया ने सुधा को सम्बोधित किया—

''बिटिया, जब तक कॉफ़ी आये, एक गाना ही हो जाय ।''

''हेयर, हेयर, हेयर !'' तालियों से अनुमोदन हुआ ।

''मम्मी, कौनसा गाऊँ ?''

''वही आरज़ू वाला,'' नन्दा साहब बीच में बोल उठे ।

''आप मम्मी कब से बने ?'' बेग साहब ने विस्मित होकर पूछा । फिर अट्टहास बुलन्द हुआ, परन्तु नन्दा साहब पर इसका कोई असर नहीं हुआ ।''

''लेडीज एण्ड जेंटलमैन ! मिस सुधा !''

''हेयर, हेयर, हेयर !''

''दिले नाशाद को जीने की हसरत हो गई तुमसे ।
मुहब्बत की कसम हमको मुहब्बत हो गई तुमसे ।।''

गज़ल पूरी हुई तो नन्दा साहब ने प्रार्थना की—

"एक और।"

"स्वीकार है, मगर शर्त यह है कि इसके बाद आपकी बारी।"

"मञ्जूर।"

"तेरे नाज़ उठाने को जी चाहता है।
वफ़ा आजमाने को जी चाहता है॥"

"लीजिए साहब, कॉफ़ी आ गई।" तेजी में कप्तान साहब का हाथ प्यालों से जा टकराया। एक प्याला मुझ पर आ पड़ा। मैं हड़बड़ाकर उठा। मेज पर रखा हुआ पानी का गिलास मेरा हाथ लगने से मेरे ऊपर आ गिरा। उँहूँ, मैं तो जागते में दावत का स्वप्न देखने लगा था। यह तो वही खैमा है, वही मैं हूँ, भूख से व्याकुल।

"चपरासी!" मैं चिल्लाया।

"जी हुज़ूर!" वह आकर बोला।

"क्या बजा है?"

"साहब, दो का समय है।"

"और डॉक्टर साहब नहीं आये?"

"साहब, वह तो गाय-भैंसों को दवाई खिला रहे हैं।"

"कमबख्त से आदमियों का पेट तो भरा नहीं जाता और···खैर तुम बाजार से कुछ खाने को ले आओ।"

"साहब, इस समय तो यहाँ खाने को कुछ नहीं मिलेगा।"

"तुम खाना बनाने का सामान क्यों नहीं लाए?"

"साहब, ड्राइवर ने मना कर दिया था।"

मैं खैमे के बाहर निकला और बाजार पहुँचा। दुकानें बन्द पड़ी थीं। हलवाई आराम कर रहे थे। एक साहब खाकी सूट पहने और हाथ में छड़ी लिये आ रहे थे, मैंने उन्हें रोका।

"क्यों साहब, यहाँ खाने को भी मिल सकता है?"

"इस समय!!!"

"जी हाँ।" और मैंने उन्हें सारी बात कह सुनाई।

हम खाने को मेज पर बैठे थे—मैं और वही महाशय, जिनसे कुछ समय पूर्व भूख के ही कारण परिचय हुआ था।

उन्होंने आवाज़ दी—

"रामचन्द्र, खाना लाओ।"

मुझे उस समय उनके शब्दों ही से कितनी सांत्वना मिली, जैसे कोई स्वादिष्ट भोजन खाकर होती।

दो नौकर आगे-पीछे खाना लेकर आये। बड़े-बड़े दो थाल थे। पूरियाँ थीं। घी में तर पूरियों को देखकर मेरे मुँह में पानी भर आया। मांस और सब्जी के कई सालन थे। मैंने आँखों से ही इन खाद्य-पदार्थों का मजा लेना प्रारम्भ कर दिया।

भूख भी कैसा मनोविकार है, कैसी बला है कि जिसकी पीड़ा असह्य होती है। भूखे पुरुष की ही 'आह से निकला होगा गान' और प्रथम कवि की सृष्टि हुई होगी। चार्वाक के भौतिकवाद को यहीं प्रेरणा मिली है और एंजिल्स व कार्ल मार्क्स का सम्पूर्ण आर्थिक दर्शन-शास्त्र यहीं सही उतरता है।

नौकरों ने और भी नाना प्रकार के भोजन लाकर रखे, परन्तु इन्हें निरखते रहने का मुझे अवकाश कहाँ? भूख प्रेरित कर रही थी, 'शीघ्र हाथ बढ़ाओ।'

मगर जब तक 'होस्ट' न कहे अतिथि का पहले भोजन आरम्भ कर देना अशिष्टता है। विवश हाथ रोके बैठा रहा।

किसी कार्यवश यह महाशय बाजू के कमरे में उठकर चले गए। मैं तिलमिला उठा। खाना सामने है, मगर खा नहीं सकता और उनके बिना खाना असभ्यता होगी।

"बाबा, भूखे हैं।" पीछे से आवाज़ आई। मुड़कर देखा तो एक भिखारी था।

"बाबा, प्रातः से भूखा हूँ।" उसने फिर कहा।

मैंने एक बार मुड़कर उसे देखा, "...भूखा है सुबह से ?" न जाने क्यों ? मैंने झट बहुत सी पूरियाँ और तरकारी उठाकर उसे दे दी। भिखारी प्रसन्न-मुख चला गया।

'होस्ट' महोदय वापस आये, "क्षमा कीजिएगा मैं ज़रा..." और फिर उनकी निगाह खाली थाली पर गई। "अच्छा," वह हँसे, "आपने तो खाना शुरू भी कर दिया। सच है भूख बड़ी बला है।"

मैं फीकी-सी हँसी हँसकर रह गया और जल्दी-जल्दी खाने लगा। प्रातः से भूखा जो था।

हरिजन-सभा

हरिजन-सभा

प्राण की मुरझाई हुई आकृति देखकर मुझे उसके पिता की याद आई। वह दो माह से सख्त बीमार थे। ऐसे पिता की मृत्यु से किस पुत्र को दुख नहीं होता ! रूमाल आँखों पर रखकर प्राण कुरसी में धँस गया। उसकी ऐसी दशा देखकर मेरा करुण-भाव उभर आया। उसे सांत्वना देते हुए मैंने कहा—

"मनुष्य को साहस नहीं छोड़ना चाहिए।"

"परन्तु साहस मनुष्य को छोड़ रहा है।" उसने उसी तरह आँखों पर रूमाल रखे हुए कहा।

"तुम्हें कब सूचना मिली ?"

"अभी-अभी।"

"पत्र द्वारा ?"

"दूत द्वारा।"

"कितनी अच्छी तबियत थी !" मैंने सिर हिलाते हुए कहा।

"इसी बात का तो रोना है। अगर कम्बख्त यही खराब होती तो जान पर तो न बनती।"

इतना कहकर उसने आँखों से रूमाल तो हटा लिया, परन्तु दुःख के चिह्न अब भी उसके मुख पर छाये हुए थे। हाँ, उसकी यह बात मेरी समझ में न आई। बात बढ़ाना उचित न था। उसके साथ उसके गाँव जाना जरूरी था। मैंने पूछा—

"कब जा रहे हो ?"

"अभी," उसने उत्तर दिया।

"किन्तु तुम भी तो चल रहे हो ?"

"हाँ, मैं क्यों न चलूँगा !"

"परन्तु यह बतलाओ, वहाँ जाकर मैं क्या बोलूँगा ?"

"तुम्हें बोलने की जरूरत ही क्या है ?"

"और क्या तुम्हारे बाप को है ?"

दुःखातिरेक में ऐसा व्यंग केवल प्राण को ही सूझ सकता था।

"परन्तु क्या तुम वहाँ भाषण देने जा रहे हो ?" मैंने किंचित् क्रोध से कहा।

"और क्या करने जा रहा हूँ ?"

"क्या पगला गए हो ? बाप की मौत और भाषण !" मैंने विस्मित हो तनकर बैठते हुए पूछा।

"किसके बाप की मौत ?"

"तुम्हारे बाप की और किसकी ?"

"निरे उल्लू हो तुम, अगर बाप की मौत होती तो क्या मैं यों दुखी दिखाई देता ?"

मेरे हाथ-पाँव ढीले पड़ गए और मैं पीछे गिर पड़ा। परन्तु खैर यह हुई कि मैं कुरसी पर बैठा था।

इस दशा में मैंने प्राण से किस्सा सुना। कुछ बात मेरी समझ में आई, अधिक समझ के दायरे के बाहर घूमती रही। जो बात समझ में आई वह यह थी कि उस दिन हरिजन सभा मुबारिकगंज ने प्राणनाथ भाटिया को भाषण के लिए आमंत्रित किया था। सहसा प्राण बोला—

"मुझे क्या बोलना होगा ?"

"क···क····या····" मैंने पूछा। मेरी दशा तपेदिक के बीमार की-सी हो रही थी।

"मैं पूछता हूँ कि आज हरिजन सभा में तुम्हारे सभापतित्व में

आयोजित सभा में मुझे क्या कहना चाहिए ?"

इतना कहकर उसने मेरी मेज़ की दराज़ से कागज़ निकाला और मेरे कोट की जेब से पार्कर कलम, और बोला—

"समय कम है, जो बकना है बकिए।"

"अरे छोड़ो भी, क्या रखा है इस ढकोसलेबाज़ी में।" मैंने पीछा छुड़ाने के भाव से कहा।

"मेरे पास फिज़ूल बातें सुनने को समय नहीं है, शीघ्रता कीजिए।"

बचने का कोई मार्ग न पाकर मैंने कहा—

"कहने को तो बहुत-कुछ है, परन्तु आप उन्हें आम बातें बतला दीजिए।"

"उदाहरणत: ?" प्राण ने कलम को कागज़ पर लाते हुए कहा।

"उदाहरणत: हरिजन और उनके अधिकार, समाज का उनके प्रति व्यवहार, ब्लेक मार्केट इत्यादि-इत्यादि। यह आवश्यक नहीं कि एक बात का दूसरी से सम्बन्ध हो।"

"और ?"

"और आप लोगों को सरकार की नई योजनाओं के विषय में कुछ बतला सकते हैं।"

"अरे हाँ सेठ," वह अचानक बोला, "बड़ी प्यास लगी है।"

"वह मेज़ पर पानी का लोटा धरा है।"

"तो मित्र, क्या हमारे लिए पानी ही रह गया ?"

"ज़हर का प्याला मँगवाऊँ ?"

"वह तुम पीते रहना, मेरे लिए तो व्हिस्की चलेगी।"

"परन्तु यह खुश्क प्रदेश है।"

"कोई बात नहीं। सेठ लक्ष्मीनाथ के लिए खुश्की में भी तरी है। हाँ, ज़रा शीघ्र हो जाय।"

इस कम्बख्त के मुँह से निकली हुई बात का पूरा होना ज़रूरी है।

अनिच्छा होते हुए भी आदेश मानना पड़ा। आधी बोतल थी। उसने खामोशी से पीना शुरू किया, खामोशी से पीता रहा। फिर एकदम उठा और चल दिया।

"हरिजन-सभा है न !" मैंने उसे स्मरण कराने के विचार से कहा।

"वहीं जा रहा हूँ।"

"मैं भी चलता हूँ।"

"मैंने दुनिया-भर का ठेका नहीं ले रखा।"

"मेरा पार्कर पेन·······" मैं चिल्लाया, मगर कोई सुने तो। वह तेजी से जा रहा था। मैं उसके पीछे हो लिया।

कालूसिंह भक्त ने सभापति के लिए मेरा नाम प्रस्तावित किया। एजेण्डा में सबसे पहले प्राणनाथ भाटिया का नाम था।

तालियों के मध्य भाटिया साहब अपने स्थान से उठे और मेज़ के पास आकर खड़े हो गए। बोले—

"सेठ लक्ष्मीनाथ जी, भाइयो और बहनो !" (जहाँ तक मेरी नज़र जाती थी, मुझे कोई बहन दिखाई नहीं दी) "सेठजी, भाइयो और बहनो !·······भाइयो, बहनो और सेठजी"·······वह कहते रहे और जेब में कुछ खोजते रहे, परन्तु वस्तु अप्राप्य रही। खोज से तंग आकर उसने ज़ोर से मेज़ पर मुक्का मारा और बोला, "भाइयो और बहनो ! कोई बात नहीं। मैं ज़बानी बोलूँगा। यह सब षड्यन्त्र है। धनी लोग सदा दरिद्रों के विरुद्ध षड्यन्त्र करते आए हैं। सेठ लक्ष्मीनाथ ने मेरी जेब से आवश्यक कागज़ ही उड़ा लिये, परन्तु कोई बात नहीं। मैं ज़बानी ही बोलूँगा और इन सेठ लोगों की साज़िश का भांडा फोड़ूँगा। इसीलिए सेठजी नहीं चाहते थे कि मैं आपकी सभा में आकर भाषण दूँ। अच्छा, तुम लोगों में से जो सेठजी के घर पर काम करता हो, खड़ा हो जाय।"

हमारा मेहतर दौला उठकर खड़ा हो गया।

"क्यों भाई, तुम्हें सेठजी के घर से कितने पैसे मिलते हैं ?" प्राण ने पूछा।

"दो रुपये।"

"दैनिक ?"

"नहीं, मासिक।"

"सुना आपने ?" वक्ता ने मेज़ पर मुक्का मारते हुए कहा। "सेठजी अपने मेहतर को दो रुपये मासिक वेतन देते हैं। इनका कुत्ता विलियम दो रुपये रोज़ का माँस खाता है, इनकी बिल्ली पर भी दो रुपये दैनिक खर्च उठता है और इनका मेहतर दो रुपये मासिक वेतन पाता है। बिल्ली और कुत्ते का एक मनुष्य से अधिक मूल्य है। क्या आप लोगों ने कभी इस विषय में सोचा है ?"

"नहीं।" असंख्य आवाजें गूँज उठीं।

"इसलिए ये लोग तुम्हें सोचने का अवसर ही नहीं देते, तुम्हें हमेशा उल्लू बनाए रखते हैं। हमारे सभापति सेठ लक्ष्मीनाथ सिर से पैरों तक खादी धारण किये हैं और इनकी गणना देश के विख्यात नेताओं में की जा रही है, परन्तु आप शायद सेठजी के कुटुम्ब और उनके कारनामों से परिचित नहीं।"

मैंने कनखियों से इधर-उधर देखा। लोग मुझे घूर-घूरकर देख रहे थे। प्राणनाथ कह रहे थे—

"इनका वंश प्रत्येक सरकार का पिट्ठू रहा है। मुगलों के पश्चात् सिखों का राज्य आया, फिर अंग्रेजों का और आज काँग्रेस का। इतने परिवर्तन हुए परन्तु ये अप्रभावित रहे, क्योंकि हर बार ये स्वयं बदलते रहे। अंग्रेजी शासन-काल में ये काँग्रेसवालों को जेल भिजवाते थे, आज समाजवादियों को जेल भिजवा रहे हैं। तब ये खादी का उपहास करते थे, आज····"

"सेठ लक्ष्मीनाथ····मुर्दाबाद !"

"बहनो और भाइयो, सेठजी हिंसा के शत्रु और अहिंसा के

समर्थक हैं। आप माँस को स्पर्श तक नहीं करते। जीव-हिंसा करना आपके धर्म के विरुद्ध है। करुणाभाव से प्रेरित होकर आप कीड़ों को चावल, कौओं को अन्न और कुत्तों को रोटी खिलाते हैं। गरीबों की दशा देखकर आपका दिल पिघल उठता है और आप उन्हें आर्थिक सहायता देने को उत्सुक हो उठते हैं। आप केवल पचास प्रतिशत सूद वसूल करते हैं, बल्कि रकम देने से पूर्व ही काट लेते हैं। परन्तु जो इतना साधारण सूद भी नहीं दे सकता, उसे अपना घर या पशु गिरवी रखने की खुली छुट्टी है......"

"ये लोग गरीबों का खून चूसते है।" एक नवयुवक हरिजन क्रुद्ध होकर बोला।

"जानवरों पर तो दया करते हैं," प्राण ने चुटकी ली।

'अमीरों के प्रतिनिधि सेठ लक्ष्मीनाथ.......मुर्दाबाद!' के नारे गूँज उठे। उन लोगों का आवेश और क्रोध देखकर मैं सहम गया, मुझे फ्रान्स के विद्रोह की बात याद आ गई और भयभीत हो मुझे पसीना छूट पड़ा। सोचा भाग निकलूँ...

परन्तु वह कह रहे थे—

"भाइयो और बहनो, सरकार की प्रत्येक नवीन योजना के पक्ष में सेठजी सरकार के प्रचार-विभाग से भी बढ़कर प्रोपेगंडा करते हैं। 'अधिक अन्न उपजाओ' योजना के विषय में आपके लेखों और भाषणों ने कितनी धूम मचा रखी थी। आपने लोगों से अनुरोध किया कि उन्हें एक-एक इंच भूमि में अन्न बोना चाहिए; आपने उन लोगों को धिक्कारा है जो आज संकटकाल में सब्जी और अन्न के बजाय फूल और घास उगा रहे हैं और आप शायद नहीं जानते कि सेठजी के बँगले पर तीस-तीस रुपये मासिक वेतन पर दो माली केवल फूल और घास की क्यारियों के लिए नियुक्त हैं..."

"देशद्रोही सेठ लक्ष्मीनाथ...मुर्दाबाद!" श्रोतागण चिल्ला उठे।

"यही नहीं," वक्ता ने भाषण जारी रखते हुए कहा, " 'अधिक पेड़

लगाओ' योजना के विषय में आपने कितने ही लेख प्रकाशित किये और इस इलाके में कोयले के सबसे बड़े व्यापारी आप ही हैं। कोयला बनाने के लिए असंख्य पेड़ काटने में आपकी आत्मा को कष्ट नहीं पहुँचता।"

"आत्मा हो तो···" एक हरिजन ने आवाज निकाली।

"ग्राम-सुधार के विषय में आपके कितने उच्च विचार हैं! आप अपना गाँव छोड़कर शहर में रह रहे हैं। गाँव में आप कर और ऋण वसूल करने जाते हैं। आपके विचारानुसार ग्रामीणों के सुधार के लिए कर वसूल करते समय सख्ती करने से घबराना नहीं चाहिए। इसी कारण सेठजी के कार्यकर्ता लगान लेते समय दरिद्र किसानों पर हंटर चलाने, उनके लड़कों को जेल भिजवाने और उनकी युवा बालाओं को अपमानित करने में दुःख अनुभव नहीं करते···"

"बदमाश सेठ लक्ष्मीनाथ···मुर्दाबाद!"

"हरिजन-सुधार का काम आपको कितना प्रिय है! परन्तु इससे क्या, आपके घरवाले कुएँ और मन्दिर के पास कोई हरिजन नहीं फटक सकता। हरिजनों में पैदा हुई कुरीतियों का उन्मूलन करने की आप सौगन्ध खा चुके हैं। लोगों में फैली हुई जुए की बुरी रस्म को देखकर आपका दिल कबाब हो जाता है। क्लब में आप कई बार अपने इन विचारों को प्रकट कर चुके हैं। तुम शायद यह भी नहीं जानते कि क्लब क्या बला है। तुम भी निरे मिट्टी के माधो हो। क्लब वह स्थान है, जहाँ वह और उन जैसे दूसरे शरीफ ताश पर पैसे लगाकर खेलते हैं····"

"वह भी तो जुआ है।" हमारे भंगी दौले ने उकठर कहा।

"परन्तु वह शरीफों का जुआ है—कानून की मार से बाहर।"

"जुएबाज़ सेठ लक्ष्मीनाथ····मुर्दाबाद!"

बड़ा कठोर प्रहार था। मेरा दिल बैठ गया। परन्तु कौन कह सकता था कि यह अन्तिम है, मेरा सभापति की कुर्सी पर डटे रहना सख्त आक्रमणों को निमन्त्रण देना था। तो क्यों न भाग निकलूँ? परन्तु यदि ये लोग मेरा पीछा करने लगे तो······।

"तो सेठजी" भाटिया साहब फरमा रहे थे, "समाज-सुधार के पक्के समर्थक हैं। ब्लैक मार्केट की बढ़ती हुई आय से आपकी छाती जल उठती है। उस जलन को बुझाने के लिए आपको स्वयं मैदान में कूदना पड़ता है, परन्तु सदा नहीं। फिर आप प्रत्येक सौदे में ब्लैक मार्केट तो नहीं करते, केवल लोहे में करते हैं। वह भी करोड़ों का नहीं, केवल कुछ लाखों का। परन्तु लोगों को देखिए, ब्लैक मार्केट के विरुद्ध पत्रों में छपने वाले सेठजी के उपदेशों से लाभ न उठाते हुए उन पर आक्षेप करते हैं······"

"ऐसे मनुष्य को फाँसी होनी चाहिए।" काले, नंगे शरीर पर लंगोट पहने हुए, एक हरिजन मुक्का तानकर बोला।

"अवश्य होनी चाहिए," हवा में मुक्के तानते हुए श्रोतागण चिल्ला उठे।

मेरा हृदय धक्-से रह गया। फ्रांस की बगावत के नजारे मेरी आँखों के सामने तैरने लगे। मडाम ठिफारजी और उसके सहकारियों की याद से मेरे शरीर के रोंगटे खड़े हो गए। यदि सचमुच ये लोग इस धमकी को कार्यान्वित करने का दृढ़ संकल्प कर लें······"

"भाइयो और बहनो, सेठजी मदिरा-निषेध के पक्के समर्थक हैं। जब विह्स्की या शैम्पेन पाकर आप स्टेज पर धुआँधार भाषण करते हैं तो·····"

"बगला-भगत कहीं का !" एक काना हरिजन दाँत पीसकर बोला।

मैंने महसूस किया कि मेरे पैरों तले से जमीन निकल रही है, हॉल घूम रहा है और सहस्रों हरिजन मुक्के ताने और नारे लगाते हुए मेरी ओर बढ़े आ रहे हैं। 'बगला-भगत, जुएबाज, दरिद्रों का शत्रु' नारे ऊँचे हो रहे हैं। न जाने मैं कब कुर्सी छोड़ उठ भागा। नारे बुलंद और चीखें तेज हो रही थीं और मेरा पीछा कर रही थीं तथा साथ ही मेरी टाँगों में बिजली की तेजी पैदा कर रही थीं। मैं धड़ाम से आकर चारपाई पर गिर पड़ा। चारपाई लोहे की थी, परन्तु खैर यह हुई कि उस पर बिस्तर बिछा था।

संघर्ष

संघर्ष

उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे विवाह-पाश में बाँधा जा रहा था। विवाह की रीतियाँ उसकी क्रोधाग्नि में आहुति का काम दे रही थीं। क्या तमाशा है! काल्पनिक देवताओं को यज्ञ से रिझाया जा रहा है और एक मनुष्य का बलिदान किया जा रहा है। एक निर्दोष व्यक्ति पर इच्छा न रहते हुए भी महान् उत्तरदायित्व लादा जा रहा है; किनके द्वारा—स्वयं उसके शुभचिन्तक, उसके माता-पिता।

स्वाधीनता की कथाएँ सुनने वाला महत्त्वाकांक्षी नवयुवक दासता के बन्धन में बाँध दिया गया। उसके विचारादर्शों पर पानी फिर गया, उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ मिट्टी में मिल गईं। इस पर भी उसके मुख पर ताला पड़ा रहा। यह नहीं कि उसमें ताला तोड़ने की क्षमता नहीं थी, केवल भावातिरेकता हृदयगत रहस्य को मुख तक आने से रोकती। उसकी बाह्य शान्त आकृति उसके अन्तस की आकुलता की द्योतक नहीं थी। उसका जी चाहता था कि मन्त्र का उच्चारण करने वाले को हवन-कुण्ड में धकेलकर उस पर घी का कनस्तर उँडेल दे, हवन-कुण्ड की जलती लकड़ियों से वेदी-मण्डप को जलाकर राख कर डाले, वेदी-मण्डप में बैठे हुए बारातियों को भस्म कर डाले और लाल जोड़े में लिपटी हुई जो गुड़िया पास बैठी है उसे भी फूँक डाले। किन्तु न जाने क्यों वह अपने संकल्प-विकल्पों को कार्यान्वित न कर सका।

वह जानता था कि उसकी पत्नी निर्दोष है और उसी की तरह

विवशता की शिकार है। उसे उससे कोई शिकायत न थी, फिर भी वह उसकी ओर आकृष्ट न हो सका। यह नहीं कि वह सौन्दर्यमयी न थी। उसमें आकर्षण था, फिर भी वह उससे खिचा-खिचा रहता। उदास और चिन्तित होते हुए भी वह अपना कर्त्तव्य निभाने में तल्लीन रहता और अशान्ति दूर करने के लिए हर तरह की चेष्टा करता, किन्तु उसकी हर चेष्टा निष्फल जाती। शान्ति उससे कोसों दूर रहती। वह मन की पीड़ा दूर करने का आश्रय ढूँढता। अतएव जनसाधारण से उसे घृणा रहने लगी और भीड़ से ग्लानि। उसे एकान्त भाता, परन्तु एकान्त में आकुलता बढ़ जाती, सोई हुई उदासी उभर आती, चिन्ता उसे खा जाती।

उसने साहित्य की शरण ली। कभी भर्तृहरि और टैगोर से शान्ति-प्राप्ति का प्रयास करता, कभी इलियट और रोमांरोलां से आनन्द प्राप्त करने का प्रयत्न करता। असंख्य लेखकों के विचार-कोष एकत्र कर वह उनमें से मोतियों की खोज में तल्लीन रहता। उनके सामीप्य से शान्ति जरूर मिलती, परन्तु वह कितनी अल्पस्थायी होती। उसकी आत्मा किसी खोई हुई वस्तु की तलाश में उद्विग्न रहती और उसका हृदय उस वस्तु को जानने के लिए आतुर रहता।

एक दिन उसकी दृष्टि एक सुन्दरी की दृष्टि से उलझ गई। उस लावण्यमयी के अनुपम सौन्दर्य ने उसके पैरों में जंजीर बाँध दी। वह स्वयं भी उस जंजीर में बँध गई। अनायास वे एक-दूसरे की ओर आकृष्ट हो गए। आँखों में बातें हुईं, दिलों में कानाफूसी। पारस्परिक मिलन-क्रम आरम्भ हो गया। कार्य से अवकाश पाते ही वह उससे मिलने के लिए भागता। नरम और नाजुक उँगलियाँ उसके ज्वलन्त कपोलों पर नृत्य करतीं। वह उसके केशजाल में मुँह छिपा लेता। दो हृदय स्पन्दन गिनते। खामोश निगाहें दिलों की गहराइयों में उतरकर दबी हुई निःश्वासों को उभारतीं। गम मिट जाता। उल्लास हृदय के पड़ोस में आकर बस जाता। वह कालेज की एक छात्रा थी और उच्च

वंशजा। परन्तु उसके पास एक तड़पता दिल था और उसी के कारण विवश थी। उसे यह भी विदित था कि उसका प्रियतम दो वर्ष से विवाहित है और उसकी युवा पत्नी है। उस पर भी आकर्षण का कारण न वह समझ सकी, न वह ही समझ सका। वह छुट्टी पाते ही उसकी ओर चल निकलता। लम्बा रास्ता पलों में तय हो जाता। वह छत पर खड़ी उसकी बाट जोहती। दोनों एक-दूसरे को देखते। दिल की कली खिल जाती। घण्टों के बाद मिलना, शताब्दियों बाद की मुलाकात महसूस होती।

"आज आपने फिर देरी की ?" वह पूछती।

"नहीं तो।"

"दो बजे का वादा था।"

"और अब क्या बजा है ?"

"सवा दो।"

"वाह, यह भी कोई फर्क हुआ !"

"खूब, किसी की जान पर बन जाती, आप कोई फर्क नहीं समझते।"

"किन्तु फासला भी तो कम नहीं।"

"आध घंटे पहले चला जा सकता था।"

"तो क्या अपराध का प्रायश्चित नहीं हो सकता ?"

"हो सकता है।"

"कैसे ?"

"आज तुम्हें दो घंटे देर से जाना होगा।"

"दो घंटे ! मैंने तो सोचा था दो जन्म।"

समय द्रुत गति से व्यतीत होता रहा, जैसे उसके पर लग गए हों। वह पूछता—

"एक बात बतलाओगी ?"

"क्या ?"

"तुम मुझसे इतना प्रेम क्यों करती हो ?"

"यही प्रश्न मुझे उद्विग्न करता है ?"

"यदि मैं मिलना-जुलना छोड़ दूँ तो क्या तुम्हारा प्रेम घृणा में परिणित हो जायगा ?"

"यदि ऐसा हो तो वह प्रेम नहीं हो सकता। प्रेम बाह्य स्थितियों से प्रभावित नहीं होता। तुम जानती हो कि मैं विवाहित हूँ ?"

"खूब अच्छी तरह। और यह भी जानती हूँ कि मैं भी किसी दूसरे के सुपुर्द कर दी जाऊँगी और हम एक-दूसरे से जुदा होकर रहेंगे। फिर भी तुम्हारी मूर्ति सदा मेरे मन-मन्दिर में बसी रहेगी और मैं तुम्हें भुलाने से भी न भूल सकूँगी। हाँ...."

"कहो, रुक क्यों गईं ?"

"मैं बहुधा सोचा करता हूँ कि तुमने मुझ पर यह क्या जादू कर दिया; हम एक-दूसरे की ओर क्यों खिचे ? जिस तरह चलती रेलगाड़ी के डिब्बे में बैठे हुए दो अपरिचित व्यक्ति अचानक एक-दूसरे की ओर आकर्षित होकर एक-दूसरे से ऐसे घुल-मिल जाते हैं जैसे वे वर्षों से एक-दूसरे को जानते हों और ऐसे बिछुड़ते हैं कि कभी मिले ही नहीं, इसी तरह शायद हम भी कभी न मिल सकें। यही है शायद प्रकृति का मनुष्य के साथ घोर उपहास।"

उसके हृदय की गहराइयों से एक दीर्घ निःश्वास निकलकर कमरे के निस्तब्ध वातावरण में विलीन हो गया।

कुछ दिन पश्चात् उसका स्थानान्तर हो गया। अब वे मुलाकातें कहाँ होतीं। उसका मनोवेग फिर बढ़ने लगा, उदासी फिर उभरने लगी। पत्नी की उपस्थिति उद्विग्नता को दूर करने में सहायक सिद्ध न होती। ध्यान उसी सुन्दरी में निमग्न रहता, जो सहसा जीवन में आई और फिर अदृश्य हो गई, परन्तु अपने चिह्न उसके हृदय-पट पर अंकित कर गई। कभी-कभी वे स्मृतियाँ उसके जीवन को उल्लसित करने लगतीं। ग़म हवा हो जाता और वह आनन्द-विभोर हो उठता। परन्तु

यह आनन्द क्षणिक सिद्ध होता। शीघ्र ही जीवन फिर उसी प्रकार निरानन्द हो जाता और भार-स्वरूप प्रतीत होता। इस बोझ को वह अनिच्छा से जैसे किसी दैवी शक्ति के आदेशानुसार उठाये फिरता। वह इससे मुक्ति-प्राप्ति का प्रयत्न करता। उसका दिल उचाट और उदास रहता। उसने फिर साहित्य की शरण ली। विवेकानन्द और बुद्ध का पठन किया, टैगोर और टालस्टाय का अध्ययन किया। लिखने-लिखाने का कार्य भी आरम्भ किया। वह कविता करने लगा और शीघ्र ही एक सुविख्यात कवि भी हो गया। उसकी कविताएँ प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में छपतीं। बड़े-बड़े कवि-सम्मेलनों में वह आमन्त्रित किया जाता। जब वह कविता गाकर पढ़ता, श्रोतागण मस्ती में आकर झूमने लगते। कितनी सारगर्भित कविता होती! उसके बिना कोई सम्मेलन सफल न होता, कोई महफिल रंग पर न आती। परन्तु उसकी उद्विग्नता में कुछ अन्तर न आया। ख्याति-प्राप्ति के बाद भी उसे जीवन में कुछ खोया-खोया महसूस होता। जब वह एकान्त में कुछ देर के लिए बैठता, विचारों के तूफान उमड़ आते और जब तूफान निकल जाते, शून्यता पैदा हो जाती। जीवन का भार उसे फिर दबा लेता।

एक बार फिर—वह एक सुन्दरी के प्रेम-पाश में बँध गया। उसे प्राप्त करने का उसने कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। वह मजनूँ बनकर उसके पीछे-पीछे नहीं भागा। वह स्वयं ही उसकी ओर खिंच आई। उसका विवाह हुए चार वर्ष हो चुके थे, एक बच्चा भी था, फिर उसके जीवन में वही बातें होने लगीं। उसकी रातें उसी अप्सरा के पहलू ही में कटतीं। उसका केशपाश उसे विक्षुब्ध कर देता और उसी की छाया में उसे शान्ति मिलती। वह घर से दूर एक मित्र के यहाँ ठहरा हुआ था कि उसे बीमारी ने आ घेरा। पड़ोस के लोग बीमार-पुर्सी के लिए आने-जाने लगे। वह अपने भाई के साथ आती और घण्टों उसके पास बैठी रहती। उससे अच्छी सेवा-शुश्रूषा शायद कोई अन्य स्त्री कर भी नहीं सकती थी। बीमार को नियुक्त समय पर दवाई, फल, दूध

और खाना मिलता। बिस्तर बदला जाता, दिन तो दिन रात को भी वह घण्टों तक सिरहाने बैठी रहती। बिस्तर पर से उसकी निगाहें उसकी प्रतीक्षा में दरवाजे पर जमी रहतीं। उसकी अनुपस्थिति से वह उद्विग्न हो जाता और उपस्थिति से विक्षुब्ध। रात को जाने के बाद वह धीरे से उठ आती। प्रातः होते ही फिर विद्यमान हो जाती।

एक रात लाख प्रयत्न करने पर भी वह सो न सका। आँखें बन्द करके उसने निद्रा को आमन्त्रित किया, परन्तु वह फिर न आई। रात गुजरती गई और नींद भागती गई। वह पास बैठी इस संघर्ष को देख रही थी। न रह सकी, पाकर आकर बोली—

"आप सो क्यों नहीं रहे ?"

"मैं क्या जानूँ ?" उसने एक निःश्वास छोड़ते हुए कहा।

"सोने की कोशिश कीजिए, नहीं तो स्वास्थ्य पर बड़ा बुरा असर पड़ेगा।" उसने मधुर भाव से कहा।

"आप ही सुलाकर देख लीजिए।"

"बहुत अच्छा।"

वह उसका सिर सहलाने लगी। न जाने क्यों उसका हाथ उसके हाथ पर आ रहा। उसके बालों में उंगलियाँ फेरती हुई बोली—

"आपने मुझे यह क्या कर दिया है ?"

"यही मैं भी तुमसे पूछने को था।"

"मुझ पर तो आपका जादू चला हुआ है।"

"और मुझ पर भी किसी ने मन्त्र फूँक दिया है।"

"न जाने इसका क्या परिणाम होगा," वह आह खींचकर बोली।

"परिणाम !" वह दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए बोला, "परिणाम होगा दुःख, जलन, क्लेश।" फिर वह स्वयं को कोसने लगा।

किसी की मान-मर्यादा पर हाथ डालना कुत्सित है। उसे अपने-आपसे घृणा हो गई, जीवन एक मुसीबत दीखने लगा। उसकी

समाप्ति ही आपत्ति की समाप्ति हो सकती थी। उसने महेश की पिस्तौल पर हाथ रखा ही था कि वह पहुँच गई।

दूसरे दिन वह वहाँ से अपने घर वापस आ गया।

इन अनुभूतियों से उसे मनोशांति तो प्राप्त नहीं हुई, हाँ उसकी मनोव्यथा अवश्य बढ़ी। इसके पश्चात् भी न जाने कितनी स्त्रियों से सम्बन्ध रहा, परन्तु प्यास कभी नहीं बुझी। किसी वस्तु के प्राप्त करने की उत्सुकता उसके दिल में आग सुलगाए रहती, परन्तु सान्त्वना ढूँढ़े न मिली। दर्द बढ़ता गया। इस दर्द की दवा उसने सुन्दर स्त्रियों के सम्पर्क से प्राप्त करना चाहा। कहीं अधिक सुन्दर नारियाँ उसकी ओर आकर्षित होती जाती थीं। इस बार जब वह मोटरकार की टक्कर से जख्मी होकर डॉ० नौनिहाल के अस्पताल में प्रविष्ट हुआ तो डॉक्टर की पुत्री उसके प्रेम में फँस गई थी।

बारह बजने में अभी कुछ देर थी और प्रचलित वर्ष भी संसार में उतने ही समय का अतिथि था। उसके शासन की अन्तिम घड़ियाँ आ पहुँची थीं। नव-वर्ष शासन ग्रहण करने को तैयार खड़ा था। शासन और सत्ता हाथ से जाती देखकर प्रचलित वर्ष क्रुद्ध हो उठा, वायुमण्डल काँप उठा। एक भयंकर तूफान उमड़ आया। तरुवर काँपने लगे। पशु-पक्षी सहम गए।

परन्तु उसके दिल की धड़कनें तूफान की धड़कनों से भी कहीं अधिक तीव्र थीं। उसका हृदय पारे की तरह बेचैनी की करवटें बदल रहा था। प्रियतमा की नरम-नरम उंगलियाँ कपोलों पर फिर रही थी, परन्तु उनका स्पर्श उसके व्यथित हृदय को शांत न कर सका। बाह्य तूफान ने उसके हृदय में तूफान पैदा कर दिया। उसने अनुभव किया कि कोई प्रबल शक्ति उसका हृदय चीरकर बाहर निकलने का प्रयत्न कर रही है, जैसे कोई लौह-शक्ति किसी चट्टान को फाड़कर बाहर निकल रही हो।

सहसा उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे एक प्रलयङ्कर शोर कमरे के

वातावरण पर आच्छादित हो गया···मूर्ख, तू अब तक स्थिति को न समझ सका ? विद्या-प्राप्ति के पश्चात् भी तू सत्य मार्ग नहीं जानता ? भगवान् बुद्ध के जीवन-अध्ययन के बाद भी तू जीवन-सार से अपरिचित है ? तू नहीं समझता कि तेरी यह प्रेमिका अब से कुछ वर्ष पूर्व एक मूर्ख और बेसमझ बच्ची थी और कुछ वर्ष पश्चात् एक कुरूपा बुढ़िया बन जायगी और फिर मृत्यु के उस गड्ढे में गिर पड़ेगी जहाँ से कोई वापस नहीं लौट सका····विद्या-वारिधि में गोते लगाकर भी तू जीवन-ज्ञान की प्राप्ति से वंचित रहा। तेरी आत्मा सौन्दर्य-प्राप्ति के लिए व्याकुल है। उसके लिए तू असीम मनावसाद सहता है, परन्तु इतना नहीं समझता कि बाह्य सौन्दर्य नहीं, आन्तरिक सौन्दर्य ही हृदय-ज्वाला को बुझा सकता है। जा····भाग जा यहाँ से···वास्तविक सौन्दर्य की खोज में संलग्न हो, भाग जा···दूर, आबादी से दूर···वह काँपने लगा। उसका दिल वेग से धड़कने लगा। बाहर तूफान था। उसके दिल के अन्दर भी तूफान उठ रहा था। बाहर हवा की चीखें थीं। उसके मन में एक भयंकर कोलाहल मचा हुआ था।

घड़ी की टिक-टिक जैसे जाने वाले वर्ष का दिल बींध रही थी। तूफान का वेग बढ़ता गया, परन्तु उसके हृदय का शोर तूफान से भी अधिक बुलन्द था। जा·······भाग जा·······दूर····आबादी से दूर·······

एक झटके के साथ वह उठ खड़ा हुआ, जैसे समुद्र की गहराइयों से अचानक एक लहर उछल पड़ी। क्षण-भर में वह कमरे के बाहर था। वह भाग रहा था। दूर·······इस संसार से, आबादी से दूर।

इतने में 'पिताजी-पिताजी' कहता हुआ उसका छोटा बच्चा दौड़ता हुआ उसकी ओर आया और उसकी टाँगों से लिपट गया। "पिताजी," शिशु हर्षोल्लास से कह रहा था, "कल हमें मालूम हुआ था कि आप अच्छे हो गए हैं। कल से हम आपके पास आने की तैयारी कर रहे हैं। आप घर चल रहे हैं न ! माँ भी मामाजी के साथ आपको लेने के लिए आ रही हैं।" वह बातें करते-करते उसकी गोद में चढ़ आया था

और उसकी छाती से चिपट गया। शिशु का प्रसन्न मुख देखकर वह हर्षित हो उठा।

"चलो पिताजी, घर चलें। माँ कह रही थी तुम्हारे पिताजी के घर आने पर मुहल्ले में मिठाई बाँटेंगे।" शिशु उसकी गोद में चढ़ा हर्षोल्लास से चहक रहा था और सामने से उसकी पत्नी अपने भाई के साथ ताँगे में बैठी हुई आ रही थी, अपने पति को अस्पताल से घर ले जाने के लिए।

चोर

चोर

बच्चों को दिवाली की उतनी ही प्रतीक्षा होती है जितनी नवयुवकों को विवाह की। घर में बच्चे इसी प्रतीक्षा में थे कि दिवाली आएगी, भाँति-भाँति की मिठाइयाँ खाने को मिलेंगी, आतिशबाज़ी का आनन्द लूटेंगे। सतीश, आनन्द और निर्मला को प्रतिदिन जेब-खर्च मिलता था। इसी में से बचा-बचाकर उन्होंने दिवाली के लिए पैसे जमा कर रखे थे, परन्तु राकेश का पैसों से कोई वास्ता न था। उसके अपने पैसे थे नहीं और चाची ने दूसरे बच्चों को उसे पैसे देने से मना कर रखा था। वह अपनी माँ से ले। उसने माँ से माँगे तो वह आँखों में बड़े-बड़े आँसू भर लाई, परन्तु राकेश को आँसू नहीं पैसे चाहिए थे। आँसू तो उसकी आँखों में भी मौजूद थे और चाची बार-बार उन्हें इन आँसुओं को बहाने पर मजबूर करती रहती। परन्तु दिवाली जैसे मंगल पर्व के दिन इन आँसुओं का कोई क्या करे—उनसे न तो मिठाई आ सकती थी और न पटाखे। हाँ, कभी-कभी निर्मला छिप-छिपकर उसे पैसे या मिठाई देती रहती, परन्तु चाची को पता चलता तो न केवल निर्मला को मार पड़ती, बल्कि तीन दिन तक उसे जेब-खर्च भी न मिलता। राकेश माँ से पूछता—

"माँ, तू मुझे पैसे क्यों नहीं देती?"

"बेटा, मेरे पास नहीं हैं।"

"चाची के पास कहाँ से आते हैं?"

दुःख में रंग भरने के लिए पति की बहन भी बहुधा अपनी ससुराल से आ जाती। वह विधवा थी और निस्सन्तान। दरअसल उसके दो बच्चे शैशवकाल ही में मर गए थे, परन्तु पति और पुत्रों की मृत्यु ने न तो उसके जीवन में गाम्भीर्य और सहानुभूति पैदा की थी, न स्वास्थ्य-सन्तुलन; उसके दिल में घृणा और शत्रुता के भाव भरे रहते। अपने भाई के घर आने पर न तो उसकी दोनों भावजों को प्रसन्नता होती और न ही बच्चों को। वह आती तो भूचाल लिये होती और जाती तो तूफ़ान के चिह्न छोड़कर जाती। छोटी भावज से वह इसलिए कुढ़ती कि उसके जीवन में सुख-ही-सुख है, उसका पति जीवित है, उसके बच्चे जीवित हैं और उसके पास हर वस्तु का बाहुल्य है। वह उसे यह भी कहती कि तुम्हारा पति मेरे माता-पिता की सारी सम्पत्ति पर अधिकार जमाए बैठा है, जैसे लड़कियाँ उसकी कुछ लगती ही नहीं। पिताजी ने मेरे लिए अलग से कुछ दे जाना इसलिए पसन्द नहीं किया था कि वह जानते थे कि लड़के बहन की देखभाल करेंगे। परन्तु कलजुगी भावज के होते हुए भाई में इतनी हिम्मत कहाँ कि पिता की इच्छा पूरी कर सके। वह घण्टों शोर मचाती। भाई को पता चलता कि बहन आई है तो उस दिन खाना वह कहीं बाहर खाता और रात भी बाहर काटता। अगले दिन जब उसका क्रोध ठण्डा पड़ता तब कहीं आकर बहन से मिलने का साहस करता।

दूसरे दिन बड़ी भावज की बारी आती। एक प्रकार से तो वह उसकी बराबरी की थी, क्योंकि वह भी उसकी तरह विधवा थी, फिर भी उसमें यह अकड़ क्यों? "कौनसी अकड़?" भावज पूछती। "अकड़, यह नखरा, यह घमण्ड, हमारे आने की परवा तक नहीं, हमारी इज्जत नहीं, घर तो आखिर मेरे पिता का है, तू कौन होती है, तुझे बच्चे का अभिमान है, अभागिन, तू भी मेरी तरह होगी तो पता चलेगा।"

"बीबी, यह क्या, अपने भतीजे को गाली दे रही हो?"

"दादी भतीजे की, आई है भतीजे की परख निकालने वाली। मुई,

तेरी गर्दन नीची नहीं हो सकती।"

"अभी मेरी गर्दन में है ही क्या?"

"अभी है, जब तक तू बच्चे की माँ है इसमें शर्म नहीं आएगी।"

"बीबी, तुझे अपने भतीजे के बारे में ऐसा कहते हुए लाज नहीं आती।"

"बस जबान बन्द कर, बदजात। आई है मुझे लाज की नसीहत देने वाली।" वह घर को सिर पर उठा लेती, "ईश्वर करे मुझे सताने वाली, तू भी मेरी तरह हो जा।"

"हो तो गई हूँ और क्या चाहती हो?" वह आँखों में आँसू भर कर कहती।

"अभी नहीं, जब तक तू बच्चे वाली है तेरा अभिमान टूट नहीं सकता।"

"खबरदार, अगर मेरे बच्चे को गाली दी।" वह गरजकर बोलती। उसकी आँखों में अंगारे नाचने लगते, जो उसके आँसुओं को एकदम सुखा देते। भीगी बिल्ली एकदम वन की सिंहनी बन जाती। उसकी गरज ननद के दिल में कँपकँपी पैदा कर देती, परन्तु वह लोमड़ी से अधिक चालाक थी। तुरन्त जोर से रोना शुरू कर देती, तब भाई से न रहा जाता। वह आकर कहता, "यह सब क्या है? यह घर है या कुँजड़ियों का बाजार? लोग क्या सोच रहे होंगे?"

वह रोकर कहती, "भैया, मुझे तांगा मँगवा दो, मैं वापस ससुराल जा रही हूँ।"

"परन्तु बात क्या है?" वह पूछता।

"बात इस कलजोगन से पूछ," वह भावज की ओर इशारा करके बोली, "जब से आई हूँ यह एक मिनट के लिए खामोश नहीं। भैया, अगर तेरे जीजाजी नहीं रहे तो इसमें मेरा क्या दोष है? यह कहती है कि अपने पति और पुत्रों को मैं खा गई हूँ।" और जोर से रोने लगती। वह चिल्लाता, "भाभी, यह सब क्या है? तुमने घर को नरक से भी

बदतर बना रखा है। यदि भैया जिन्दा होते तो मैं अभी घर से अलग हो जाता। उन्हें तो ले लिया, अब हमें तो चैन से रहने दे।"

उसका दिल छलनी हो जाता। हमारे घरानों की विधवा नारियों और कसाई के बकरे में यह साहश्य होता है कि दोनों को सिसका-सिसका कर मारा जाता है। बकरा विधवाओं से इस कारण भाग्यवान होता है कि वह इस जंजाल से शीघ्र छूट जाता है। मार्ग में पड़ती बेरी को हर कोई झंझोड़ सकता है। सम्मिलित कुटुम्ब में रहने से उसे यह लाभ तो है कि दूसरों की नजर से बची रहकर अपने सतीत्व को बचा सकती है, परन्तु उसे इसका कितना बड़ा मूल्य देना होता है। यदि वह चुप रहती है तो भीतर-ही-भीतर घुलती है, यदि मुँह से कुछ निकालती है तो आफत मोल लेती है, जैसे वह आटे का दीप हो। बाहर रखो तो कौए खाएँ, अन्दर रखो तो चूहे।

वह आत्महत्या नहीं कर सकती। बच्चे को जल्लाद के सुपुर्द कैसे करे! उसके जीते-जी उस पर नजरें लगाए बैठे हैं, मरने के बाद तो बच्चे को हड़प जायँगे। उसके सामने उसे रोटी तो मिल जाती है। पैसों से मुहताज रहने पर भी उसे माँ का प्यार तो मिल जाता है।

और जब राकेश आकर उससे लिपट जाता, उसके सब गम धुल जाते। उसका अपने पिता से कितना साहश्य था! वही बादाम-सी आँखें, गोरा रंग, उभरी नाक, चौड़ा मस्तक, वही मुस्कान। वह माँ से लिपट जाता। वह उसे बाहुपाश में ले लेती और चूमती और न जाने क्यों उसकी आँखों से अश्रुधारा बह निकलती। वह अपने नरम हाथों से आँसुओं को पोंछता और कहता—

"माँ, यह आँसू क्यों? क्या तुम्हें पिताजी याद आ रहे हैं?"

"नहीं लाल," और आँसू छम-छम गिरने लग जाते, जैसे उनके रास्ते से सब रुकावट दूर हो गई हो। वह बच्चे से लिपटकर और भी रोती। इससे दिल का बोझ कितना हल्का होता!

"माँ, आज दिवाली है न?" वह उस दिन बोला।

"हाँ, लाल !"

"माँ, यह क्यों होती है ?"

"बेटा, आज के दिन रामचन्द्रजी लंका जीतकर वापस अयोध्याजी लौटे थे।"

"परन्तु रामचन्द्रजी को मरे तो बहुत दिन हो गए।"

"हाँ बेटा, राम ने रावण को मारा तो सच पर झूठ की जीत हुई। उस जीत को आज भी मनाया जाता है। उस दिन अमावस की काली रात थी, इसलिए दिये जलाए जाते हैं। खुशी मनाने के लिए मिठाई बाँटी जाती है।"

"किन्तु मां, चाची तो मुझे मिठाई नहीं देतीं।"

"देंगी।"

"यदि न दें तो ?"

"अवश्य देंगी।"

"मां, तू क्यों नहीं देती ?"

"बेटा, मेरे पास पैसे नहीं।"

" 'पैसे नहीं,' रोज ऐसे कह देती है।"

वह एक दीर्घ निःश्वास छोड़ती।

रात को बच्चों ने पटाखे छोड़े, फिर लक्ष्मी की पूजा हुई। एक थाल में मिठाई, कुंकुम और एक रुपया रखकर उसमें जोत जलाई गई। बच्चे हाथ जोड़कर उसके गिर्द बैठ गए। फिर चाची ने दो-दो लड्डू सब बच्चों के हाथ पर रख दिए। राकेश से बोली "जा, तू अब खेल।" अपने बच्चों को वह कमरे में ले गई। दरवाजे बन्द कर उसने अलमारी से मिठाई की तश्तरियाँ निकालीं और उनके सामने रख दीं। फिर बोली—

"चुपचाप खा लो। राकेश को न बतलाना।" और बाहर आ गई।

निर्मला बोली, "यदि तुम लोग माँ से न कहो तो मैं अपने हिस्से में से राकेश के लिए रख लूँ ?"

"हम तो माँ से कह देंगे," आनन्द बोला।

"हम नहीं बताते," छोटा सतीश बोला।

"और यह लो, गुलाबजामुन भी इसमें जमा कर लो।"

"परन्तु माँ मारेगी," आनन्द ने कहा।

इतने में दरवाजा खुला। सब घबरा गए, मां होगी। परन्तु वह राकेश था। वह उन्हें बाहर न पाकर ढूँढ़ता हुआ यहाँ आ पहुँचा था। उसे देखकर आनन्द ने अपनी मिठाई की तश्तरी हाथ से ढक ली। निर्मला ने हाथ से यों इशारा किया जैसे कह रही हो, धीरे-धीरे आओ। जब वह उसके पास पहुँचा तो निर्मला ने उसके लिए रखी हुई मिठाई उसके हाथ पर रख दी। राकेश मिठाई देखकर प्रसन्न हो उठा जैसे निर्मला को खोजना वरदान हुआ। आनन्द-विभोर होकर उसने एक लड्डू उठाया और उसे मुँह में डालने ही को था कि दरवाजा खुला और चाची प्रविष्ट हुई। उन्हें देखकर सब सहम गए। आनन्द झट बोल उठा, "मैंने नहीं, निम्मी ने दी है।" सतीश ने अपने दोनों गालों पर हाथ रख लिये और निम्मी अपराधियों की भाँति सिर झुकाए खड़ी हो गई। चाची गरजकर राकेश से बोली—

"तू इनके पीछे भूत की तरह क्यों फिरता है? जब वे खाने लगते हैं आ मरता है। आप तो हट्टा-कट्टा फिरता है, मेरे बच्चों से इसे न जाने क्या दुश्मनी है।" और उसने बढ़कर उसके हाथ से मिठाई छीन ली और उसका हाथ पकड़कर उसे कमरे से बाहर धकेल दिया। फिर निर्मला के मुँह पर तमाचा लगाकर बोली, "इसे बहुत प्यार आता है। मुई कहीं की। खबरदार, अगर अब उसे मुँह लगाया। उस कमीने के साथ खेलकर तुम्हारी आदतें भी खराब हो गई हैं।"

रात को सब सो गए, लेकिन राकेश को नींद न आई। उसने बिस्तर से झाँककर देखा, माँ खर्राटे भरकर सो रही थी। वह बिस्तर से उठा, कमरे से बाहर निकलकर बरामदे में आया। सब कमरों में बत्तियाँ जल रही थीं। वह घुटनों के बल चलने लगा। सब कमरों के दरवाजे

खुले थे। चाची के कमरे की ओट में खड़े होकर उसने अन्दर झाँका। सब सो रहे थे। वह पंजों के बल वहाँ से लौटा और पूजा वाले कमरे के पास पहुँचा। अचानक जोर से कोई दरवाजा खटका। राकेश के जैसे प्राण निकल गए। वह पूरी तेजी से पंजों के बल भागा और आँगन में आकर नीम के पेड़ के पीछे छिप गया। उसका दिल धक्-धक् कर रहा था, बहुत तेजी से। पेड़ की ओट से उसने बरामदे की तरफ देखा। कोई न था। शायद बिल्ली थी। वहाँ से उठा और चौकन्ना होकर चलने लगा। उसी तरह चलता हुआ वह पूजा के कमरे के पास आया। बाहर से किवाड़ बन्द थे। धीरे-धीरे उसने दरवाजा खोला और अन्दर घुस गया। फिर उसी प्रकार उसने दरवाजा बन्द किया. पाँच मिनट वह दरवाजे से चिपका हुआ खड़ा रहा। फिर वहाँ से हटा। उसने सब कोनों को देखा। वहाँ कोई नहीं छिपा था। फिर वह घर में बनाये हुए पूजा-मन्दिर के सामने पहुँचा। आरती वाली थाली अब भी पड़ी थी। 'जोत' बुझ गई थी। मिठाई जहाँ-की-तहाँ रखी थी और पूजा का रुपया भी। महालक्ष्मी ने मिठाई को स्पर्श भी नहीं किया था। शायद मिष्टान्न की सुगन्धि से ही महालक्ष्मी की उदर-पूर्ति हो गई थी। आज दिवाली के दिन तो उसे कितनी मिठाई भेंट की गई थी। इतने करोड़ों घरों में!

वह वहीं बैठ गया और इधर-उधर देखने लगा। फिर उसने मिठाई की ओर हाथ बढ़ाया। परन्तु तुरन्त ही उसका हाथ रुक गया। यदि लक्ष्मी नाराज हो गई तो। परन्तु वह तो पहले ही से नाराज़ थीं। कितने वर्षों से माँ उनकी पूजा करती आई थीं और कोई असर भी तो न हुआ था। हाँ, विपरीत यह असर हुआ था कि दिवाली के दिन उसके पास मिठाई को पैसे भी न होते थे। अवश्य ही वे नाराज हैं। तो जहाँ पहले ही इतनी नाराज़ हैं वहाँ थोड़ी और हो जायँगी। उसने थाली में से लड्डू उठाया और उसे मुँह तक ले गया, किन्तु न जाने क्यों उसका हाथ काँप उठा और लड्डू उसके हाथ से छूटकर थाली

में जा गिरा। इससे शोर हुआ औ वह काँप उठा। शायद आवाज़ बाहर पहुँच गई थी और चाची के कमरे में भी। अगर चाची जाग गईं और पूजा-गृह में आ गईं तो आफत ही आ जायगी। अगर माँ भी उठकर उसे बिस्तर में न देखकर इधर ढूँढने आ निकले और वहाँ आ जाय तो वह उसके बारे में क्या सोचेगी। क्या उसका बेटा इतना नीच है? क्या उसका इकलौता बेटा इतना गिर सकता है? वह तो उसे महापुरुषों की कथाएँ सुनाया करती हैं; राम, कृष्ण, बुद्ध और विवेकानन्द की बातें बताया करती हैं। क्या यह उसी शिक्षा का प्रभाव है कि वह आज दिवाली की पवित्र रात्रि को सबके सो जाने पर, पूजा की मिठाई चुराने जाय? नहीं, नहीं, वह ऐसा नहीं करेगा। वह जाकर माँ को जगाएगा, उसकी गोदी में सिर छिपाकर अपना अपराध स्वीकार करेगा। उससे क्षमा-याचना करेगा और प्रतिज्ञा करेगा कि फिर कभी ऐसा विचार तक मन में न लाएगा। और चाची·········हाँ, उसी ने तो आज उसके हाथ से मिठाई छीनी थी; उसी ने तो उसे आज कमरे से धक्का दिया था; उसी ने तो उसे गाली दी थी। वही तो उसे अपमानित करती है, उसमें और दूसरे बच्चों में भेद-भाव रखती है। उनके दिलों में उसके विरुद्ध ज़हर उगलती है। उसके दिल में ऊँच-नीच का भाव भरती है। माँ को तरसाती है, सताती है, रुलाती है। चाची, मैं उसी से बदला लूँगा। उसकी पूजा को खराब और लक्ष्मी को उसके खिलाफ कर दूँगा। अगर वह हमसे नाराज हैं तो उससे प्रसन्न क्यों हों, अगर माँ गरीब है तो यह अमीर क्यों हो, अगर वे कौड़ी-कौड़ी को मुहताज हैं तो ये लोग क्यों ऐश करें। बदला लूँगा और अवश्य लूँगा। और कितना मीठा बदला है! वह मिठाई, जिसके लिए वह तरसता रहा, आज कितने परिमाण में उसके सामने पड़ी हुई है। आज वह सब कसर निकालेगा। पूजा का रुपया कहीं छिपाकर रख देगा और प्रातः होते ही उसकी मिठाई खरीदेगा, शहर के दूसरे हिस्से के हलवाई से, ताकि किसी को पता ही न चल सके। और मजा

आयेगा जब लक्ष्मी जी चाची से नाराज होंगी।

उसने लड्डू उठाया, फिर दूसरा, फिर तीसरा, फिर बर्फी, गुलाब-जामुन, जलेबी, देखते-देखते सब थाली साफ। उसने रुपये को हाथ लगाया ही था कि बाहर से बरामदे में चाची के खाँसने की आवाज आई। वह सुन्न हो गया, काटो तो शरीर में खून नहीं। अब क्या होगा ? चाची कमरे में आ गईं और उसे वहाँ देखा तो—? क्यों न वह चौकड़ी लगाकर पूजा पर बैठ जाय, परन्तु मिठाई का दोष तो उसी पर लगेगा। उसने कमरे के अन्दर चारों ओर नजर दौड़ाई। एक लकड़ी का सन्दूक नजर आया। वह तुरन्त उठा और उसे खोलकर उसमें घुस गया।

तभी पूजा का दरवाजा खुला।

"यह क्या ?—सब मिठाई खत्म ?—कौन खा गया ? यह राकेश मुए की शरारत है, लेकिन रुपया तो यहीं पड़ा है। अगर वह होता तो रुपया उठाते क्या था ? तो फिर क्या कुत्ता आया ? मगर दरवाजा तो बन्द था। चूहे होंगे। कई बार कह चुकी हूँ कि पिंजरा लाओ या बिल्ली पालो। परन्तु सुनता ही कौन है। और देख लिया ! पूजा के लड्डू ही गायब हो गए। अब क्या होगा ? लक्ष्मी देवी नाराज हो गईं, हा राम, अब क्या करूँ !"

राकेश के दिल में आया कि डरावनी आवाज बनाकर कहे कि अगर नाराजी दूर करनी है तो आगे के लिए राकेश और उसकी माँ से अच्छा बरताव करो। मगर यह ठीक न होगा। वह घबराकर चीख लगाएगी, सब इकट्ठे हो जायँगे और वह पकड़ा जायगा।

वह चुपचाप बैठा रहा। चाची कह रही थी, "इससे तो यही अच्छा होता कि मिठाई का थाल सन्दूक में ही रख देती। अब भी क्या हरज है ? चूहों का क्या भरोसा ? जोत भी खा जायँगे। आटे ही की तो ठहरी।" उसने थाली उठाई और सन्दूक खोलने के लिए हाथ बढ़ाया। राकेश काँप उठा। अब चोर पकड़ा जायगा। उसका कितना अपमान

होगा। लेकिन अचानक उसे कुछ सूझा। ज्यों ही चाची ने सन्दूक के कुन्दे को हाथ लगाया, सन्दूक के भीतर से एक आवाज़ निकली, जैसे चूहे उसमें नाच रहे हों। चाची के हाथ से फौरन कुन्दा छूट गया और वह जल्दी-जल्दी पूजा के कमरे से बाहर निकल गई और तेजी से भागती हुई अपने बिस्तर में धँस गई। उसका शरीर काँप रहा था।

"मुए चूहे!" वह रजाई से सिर ढककर बोली।

साँची की यात्रा

साँची की यात्रा

अपने दृढ़ निश्चय से श्रीमती कपूर स्वयं परेशान हों या न हों, दूसरे अवश्य हैं। उस दिन बैठे-बिठाए उन्हें साँची जाने का विचार आया। विचार इतना बुरा नहीं था। किसे नहीं आता? परन्तु विचार जैसे आता है वैसे चला भी जाता है। न जाने कितनी बार मुझे आत्म-हत्या करने की सूझी। विवाह करने का श्री हरिप्रसाद को सहस्र बार विचार आया और लज्जत साहब को भी आ चुका है। परन्तु इन परिस्थितियों में विचार की सज्जनता भी प्रशंसनीय है कि वह मस्तिष्क में आता है और चला जाता है। इस बार न जाने क्या सूझी कि श्रीमती कपूर के मस्तिष्क में विचार आया और जाने से इन्कार कर दिया। उन्होंने हम लोगों से साँची जाने का प्रस्ताव किया। हमने तुरन्त अनुमोदन किया, केवल इस ध्येय से कि महिलाओं के प्रस्तावों का अनुमोदन करना सभ्यता का चिह्न है और हम ठहरे सभ्य।

तीन माह व्यतीत होने के पश्चात् उन्होंने स्मृति दिलाई कि साँची चलना है। हमने तुरन्त कहा, "अवश्य चलना है।"

"तो छुट्टियों में चलेंगे।"

"अवश्य," हमने कहा।

एक माह पश्चात् छुट्टियाँ आईं, कितनी बेचैनी से प्रतीक्षा करने के उपरान्त। हमने सारा सामान बाँध लिया और मित्रों से विदा ले ली। श्रीमती कपूर से मिलने गये तो बोलीं—

"दस दिन बाद हम साँची जा रहे हैं।"

"अवश्य जाइए।"

"आप भी चल रहे हैं," मुझसे बोलीं।

"आपको कैसे मालूम ? मैं तो घर जा रहा हूँ।"

"किसके घर ?"

"अपने, अर्थात् पंजाब जा रहा हूँ।"

"अवश्य जाइए, परन्तु साँची यात्रा के पश्चात्।" मैं विस्मित हो गया। मैंने अधिकतर देखा है कि ऐसे अवसरों पर श्रीमती असगर अवश्य पहुँच जाती हैं और पड़ोसी होने के नाते अपने कर्तव्यों को भली भाँति निभाती हैं। बोलीं, "श्रीमती कपूर, इन्हें अभी घर जाने से रोकिए, नहीं तो मजा नहीं आएगा।" मैंने इशारा किया और संकेत-ही-संकेत में कुछ खिलाने-पिलाने का भी वचन दिया—एक नहीं दो निमन्त्रण।

परन्तु वह जान-बूझकर ऐसे संकेत को नहीं समझतीं। फिर पूरी शक्ति से अपने ध्येय का वर्णन करने लगीं, "संगर साहब, ऐसा नहीं। हम भी तो रुक रहे हैं।"

"मेरे लिए नहीं।"

"तो आप हमारे लिए रुक जाइए।"

क्या बात कह दी ! कितना शौर्य है ! महिला होने के कितने लाभ हैं ! मैंने विविध प्रकार से अपने ध्येय को समझाने का प्रयत्न किया। उन लोगों ने असाधारण तर्कों के बल पर मेरी बातों का उत्तर दिया और अन्त में यह निर्णय हुआ कि मुझे रुकना ही पड़ेगा।

प्रातःकाल पाँच बजे चलना निश्चित हुआ।

नरगिस को शरारत सूझी कि अपने पैसे शब्बीर भाई की जेब से दिलवाए। उनसे बोली कि यात्रा के व्यय के लिए प्रत्येक व्यक्ति दस रुपये निश्चित हुए हैं।

वह तो बड़ी सरलता से कह गई, लेकिन शब्बीर भाई के लिए बात

इतनी सरल नहीं थी।

उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति पाँच रुपया व्यय का ब्योरा निश्चित किया था। जब विद्यार्थी-वृन्द उनके पास पहुँचे तो उन्होंने कहा कि मैंने निश्चय स्थगित कर दिया है।

भला यह नरगिस की नहीं तो किसकी भूल थी। रात्रि को शब्बीर भाई को मैंने यह शुभ सन्देश सुनाया कि दस रुपये के बजाय पाँच रुपये ही देने पड़ेंगे। वह बात बनाते हुए बोले—

"पैसों की बात नहीं थी, मुझे कुछ आवश्यक कार्य आ गया था। वह पूरा हो गया। अब आपके साथ चलने को तैयार हूँ।"

"वहाँ जाकर कोई और जरूरी काम तो नहीं आ पड़ेगा," पास ही से एक हलकी-सी ध्वनि सुनाई पड़ी।

"तुम चुप रहो जी," शब्बीर भाई ने नरगिस को डाँट बताई।

इतने में मुझे एक उपयुक्त बात सूझी।

"शब्बीर भाई, तुम यहीं सो रहो। प्रातः पाँच बजे चलना है न ?"

"लेकिन मुझे खाना भी तो खाना है।"

"खाना खा आओ। आते हुए कुछ मिठाई या और कोई अच्छी वस्तु लेते आना। मुझे भी भूख लग रही है।"

उन्होंने मुझे क्रोध-भरी आँखों से देखा, जैसे बिलकुल असमय की भूख हो। "हूँ," कहकर चले गए।

रात को बारह बजे लौटे और बोले—

"तुम जल्दी से कलाकन्द मँगवा लो।"

"इतनी रात गए कौन हमारे लिए दुकान खोलेगा ? केवल ताला तोड़कर भीतर प्रवेश किया जा सकता है। लेकिन तुम भी तो कुछ लाए हो।"

"शेष मैं सब-कुछ ले आया हूँ।"

"तो पहले शेष ही खा लें," मैंने परामर्श दिया।

उन्होंने मेरी ओर एक पोटली सरका दी।

कौतूहल से मैंने उसे खोला। उसके अन्दर एक और पोटली थी। उस कपड़े को मैंने खोला। समाचार-पत्र के पन्नों में लिपटा हुआ कुछ था। मैंने पन्नों की परतों को खोला—प्रथम परत, द्वितीय परत, तृतीय परत, चतुर्थ परत, पंचम परत। तदनन्तर मैं गिनती भूल गया कि कितनी परतें थीं, परन्तु मेरे हाथ उन परतों को खोलते रहे। जब अन्तिम स्तर पर पहुँचा तो मेरे अचम्भे की सीमा न रही। चार इंच परिमाण के दो पराठे हाथ लगे।

"खोदा पहाड़ निकली चुहिया," मैंने रोष को दबाते हुए कहा।

"लेकिन देखिए कितने गरम हैं," शब्बीर बोले।

मैंने उन्हें फिर तह में रखना प्रारम्भ किया।

"यह क्या कर रहे हो?" शब्बीर बोले।

"तहों में रख रहा हूँ।"

"क्यों?"

"ताकि गरम रह सकें।"

प्रातःकाल पाँच बजे जाने के लिए तीन बजे उठना आवश्यक था। अलार्म-घड़ी तो थी नहीं, परन्तु मैंने रिस्टवाच और दियासलाई निकट रख ली। रात को कहीं एक बजे जाकर निद्रा देवी प्रसन्न हुईं।

सपने में देखता हूँ कि शेष व्यक्ति लारी में बैठकर साँची चले गए हैं। मैं बड़बड़ाकर उठा, दियासलाई जलाई, घड़ी को देखा। डेढ़ बजा था।

फिर सो गया। सपने में कोई कह रहा था—क्या आज साँची नहीं जाओगे?

"क्यों नहीं जाऊँगा?"

फिर जग उठा। अब की एक बजकर चालीस मिनट हुए थे। इस प्रकार दस-पन्द्रह मिनट के पश्चात् सपने में कोई आकर जगा देता और मैं फिर सो जाता।

तीन बजे मैंने लाइट जलाई और शब्बीर मियाँ को बुलाया। वह

उठे और मेरी तरफ रोषयुक्त निगाहों से देखा। कम्बल की तह खोली और उसे ओढ़ते हुए शान्ति से सो गए, जैसे साँची जाना ही न था।

तब मैंने श्रीमती असगर को आवाज दी, जो दीवार की दूसरी ओर मस्त नींद में खर्राटे भर रही थीं। मेरी कोई तीस आवाज़ देने के पश्चात् बोलीं—

"मैं कितनी देर से जग रही हूँ!"

इतना ही मेरा कार्य था। मैंने उठकर दाढ़ी बनाई, स्नान किया। सवा चार बज रहे थे। शब्बीर मियाँ अब तक खर्राटे भर रहे थे।

मैंने उन्हें बुलाना प्रारम्भ किया। दस मिनट के बाद उठकर बैठ गए और बोले—

"क्या बात है ?"

"साँची जाना है न ?" मैंने पूछा।

"हाँ।"

"तो उठते क्यों नहीं ?"

"लेकिन तुम्हें यह किसने कह दिया कि मेरे पुरखा रेलवे गार्ड थे ? उठते क्यों नहीं, अब तक सो रहे हो, क्या लगा रखी है ?" और फिर सो गए। अब इन्हें उठाने का साहस कहाँ से बटोरूँ!

मैंने सोचा कि पड़ोसी तैयार हो गए होंगे। आवाज़ लगाई। एक नहीं, दो नहीं, पूरी सत्ताईस आवाज़ लगाईं।

"जग रही हूँ।"

"क्या सपने में ?"

फिर निस्तब्धता। मैंने कपड़े पहने। इतने में घड़ी देखी तो पाँच बज रहे थे। मोटर आने को होगी और ये लोग अब तक सो रहे हैं।

मैंने शब्बीर भाई को हिलाना प्रारम्भ किया—पहले धीरे-धीरे, फिर सारी शक्ति से। वह घबराकर उठे और लगे चिल्लाने—

"भूकम्प-भूकम्प ! भागो !! बचाओ !!!"

सारे मुहल्ले को सिर पर उठा लिया। मैं घबरा गया।

उन्हें चुप कराना आवश्यक था। मैंने अपना दाहिना हाथ उनके मुँह पर रखा ताकि चुप हो जायँ, परन्तु उन्होंने मुझे पीछे धकेलकर फिर चिल्लाना प्रारम्भ किया। इस समय उनकी दीर्घ चिल्लाहट दीवार के उस पार जा चुकी थी।

श्रीमती असग़र ने पुकारकर कहा—

"शब्बीर भाई, यहाँ क्या हिमाक़त है? सारा मुहल्ला जग गया है।"

"क्या कह रही हैं आपा?" वह विनम्र होकर बोले।

मेरी जान-में-जान आई, परन्तु मोटर न आई। घड़ी देखी तो साढ़े पाँच बज चुके थे। अब शब्बीर भाई आँखें खोलकर लेटे थे। पूर्ण विश्वास करने के हेतु डरते-डरते मैंने पुकारा, "शब्बीर भाई! शब्बीर भाई!!"

"क्या है?"

वह इस प्रकार चिल्लाये जैसे मुझे काट खाने का इरादा हो।

"तनिक धीरे बोलो," मैंने कहा, "मेरा नरम कलेजा डोले है।"

"तुम्हारा कलेजा है या नहीं परन्तु भेजा बिलकुल नहीं," वह रोष में बोले।

"तोबा करता हूँ, यदि भविष्य में कभी साँची जाने का नाम भी लूँ और यदि जाऊँ भी तो तुम्हारे पास नहीं सोऊँगा।"

मैंने कहा, "लेकिन साढ़े पाँच बज चुके हैं और लारी का पता तक नहीं।"

"यदि लारी आठ बजे से पूर्व आ जाय तो मेरा नाम बदल देना।"

"नाम तो पहले ही बदला हुआ है," मैंने कहा।

"मैं क्या पहली बार पिकनिक पर जा रहा हूँ? जिन्दगी में और किया ही क्या है?"

"भाड़ झोंका है," मैंने धीरे से कहा।

"क्या?"

"मैं कह रहा हूँ मोटर आती ही होगी ।"

"तुम मेरी बात मानोगे ?" वह बोले ।

"यदि अक्ल की होगी ।"

"तुम चाय तैयार करो तब तक निद्रा देवी को मना लूँ ।"

"चाय कब तक चाहिए ?"

"साढ़े छः बजे तक ।"

मैंने आज्ञानुसार चाय तैयार करनी आरम्भ की। आग कैसे जलाऊँ, यह समस्या मेरे सामने थी। दियासलाई गुम थी, क्योंकि लज्जत साहब सिगरेट की डिबिया के साथ दियासलाई भी भूल से जेब में लेकर चल दिए थे।

ध्यान आया कि शब्बीर साहब के पास भी तो डिबिया थी। मैंने उसके सिरहाने के नीचे टटोला, न मिली। जेब में होगी।

हाथ जेब की तरफ बढ़ाया। जब जेब की असफल खोज करके हाथ पलट रहा था तो शब्बीर भाई घबराकर उठे और मेरा हाथ पकड़ चिल्लाने लगे—

"चोर, चोर, पकड़ लिया।" आवाज़ सुनकर सड़क के कुत्ते भूँकने लगे।

"शब्बीर भाई, यह क्या लड़कपन है ?" आपा बिगड़कर बोलीं।

वह मुझे सम्बोधित करके बोले, "तुमने नाक में दम कर रखा है।"

"किसका ?"

मैंने आग सुलगानी प्रारम्भ की। कोयलों से भरी अँगीठी में दियासलाई जलाकर रख दी, परन्तु वह तुरन्त बुझ गई। तदनन्तर मैंने एक कोयला निकाला, उसे धरती पर रखकर दियासलाई दिखाई, उस पर तनिक भी प्रभाव न हुआ। ज्यों ही वह बुझी मैंने दूसरी जलाई, फिर तीसरी, फिर चौथी। जलाता रहा और जलाता रहा। परन्तु कोयला ढीठ था, उस पर कुछ भी प्रभाव न हुआ। शब्बीर भाई निकट बैठे यह कौतूहल देख रहे थे। कुछ पल पश्चात् अट्टहास से हँस पड़े। मैंने जाना

कि सपने में हँस रहे हैं या पागलपन का दौर उठा है, लेकिन वह बोले—

"बुद्धू, प्रथम किसी कागज़ को आग लगाओ, फिर कोयले में अपने-आप लग जायगी।"

"क्या दोनों का कुछ सम्बन्ध है?" मैंने पूछा।

"सम्बन्ध के चचा, कागज़ सुलगाकर कोयलों के नीचे रखो। कोयला स्वयं आग पकड़ लेगा।"

"ओ के।" मैंने कहा, "परन्तु दियासलाई की डिबिया समाप्त हो गई।"

"समाप्त हो गई!" वह अचम्भे से चिल्लाकर बोले, जैसे रुपयों की ही थैली समाप्त हो गई हो। "लाहौल बिला कूव्वत। अभी रात ही तो खरीदी थी। अच्छा, दूसरी डिबिया मेरी शेरवानी की भीतर की बाईं जेब में पड़ी हुई थैली में से निकाल लो।"

मैंने निकाल ली। अब कागज़ कहाँ से लाऊँ? समाचार-पत्रों की रद्दी तो शाम ही को समाप्त हो गई थी। ताज़ा पत्र अभी नहीं आया था।

कुर्सी पर एक कापी पड़ी थी। उसे उठाकर मैंने आग सुलगानी प्रारम्भ की। कापी के सारे कागज़ जलाये, तब कहीं आग सुलगी।

"वाह माई के लाल, आखिर आग जला ही ली!" शब्बीर भाई बोले।

"तुम मुझे क्या समझते हो? अच्छा, अब चाय तैयार होने को है। उठ आओ।"

"तुम तैयार भी तो करो।"

चाय का कप तैयार करके मैंने शब्बीर भाई को दिया। बड़े आराम से उठे और प्याला सँभालते हुए बोले—

"खुश रहो बेटा! खुदा तुम्हारी उम्र दराज़ करे। तुम्हारी जल्दी शादी हो।"

"क्या?"

"कहाँ ?"

तब उन्होंने प्याले को मुँह से लगाया। परन्तु एक ही घूँट भरा था कि चारपाई से उठे जैसे मक्खी ने काट खाया हो और नाली की तरफ भागे। चाय का घूँट उगलकर प्याले को जमीन पर पटककर बोले—

"कमबख्त, चाय है या जहर ?"

"चाय," मैंने कहा।

"क्या चाय भी इतनी कड़वी होती है ?"

"आपने इससे पहले भी कभी चाय पी है ?" मैंने पूछा।

"चाय तो पी है, जहर नहीं पिया।"

"हो सकता है, पत्ती कड़वी हो।"

"कौनसी पत्ती डाली है ?"

"जो मेज पर पड़ी है।"

"देखूँ तो भला।" और मेज के पास जाकर फिर चिल्लाये।

"अरे बुद्धू, यह तो खाने का तम्बाकू है जो मैंने रात यहाँ रखा था।"

"लेकिन यहाँ तो चाय रखी थी।"

"वह उठाकर मैंने आपा को दे दी थी।"

"तो भला इसमें मेरा क्या दोष है ?"

आपा यह नाटक आड़ से सुन रही थीं। दूसरी दुनिया से बोलीं—

"तुम क्या जानो चाय बनाना, ठहरो मैं भेज रही हूँ।"

गरम चाय के प्याले हमने मजे से पिये। शब्बीर भाई की तबियत प्रसन्न हुई। बोले—

"बेटा, बैठो तुम्हें गजल सुनाऊँ, रात ही लिखी है।"

"लेकिन मोटर आने वाली है, तुम सामान कस लो।"

"ऐसी-तैसी मोटर की और सामान की। तुम बैठो।" और कुछ ढूँढने लगे।

"क्या है ?"

"रात मैंने यहाँ एक कापी रखी थी।"

"इसीकी तो चाय बनी है।"

"क्या ?"

"अजी आग इसी से तो सुलगाई थी।"

"आग इसी से !"

उन्होंने माथा पीट लिया।

"इसमें तो मेरी सब गजलें और शेर थे। वह तो मेरा दीवान था खुदा की कसम, क्या बताऊँ तुमने मुझे कहीं का नहीं छोड़ा।"

और सिर पकड़कर कुर्सी पर बैठ गए।

इतने में सात बज गए, लेकिन लारी नहीं आई।

"मेरी एक मानोगे ?" शब्बीर भाई बोले।

"क्या ?"

"तुम रात के जाग रहे हो। कपड़े उतारकर सो जाओ। लारी या तो आएगी नहीं, या दस बजे के बाद आएगी। इतने में मैं नहाए लेता हूँ।"

मैंने उनकी बात स्वीकार कर ली। कपड़े उतारकर रख दिए और चारपाई पर लेट गया। अभी लेटा ही था कि मोटर का हार्न बजा।

"लो, आ गई कमबख्त।"

और साथ ही नीचे से शोर मचाते हुए प्रसाद साहब ऊपर पहुँचे।

आते ही उन्होंने डाँट बताई कि तुम अभी तक तैयार क्यों नहीं हुए। मैंने जल्दी-जल्दी कपड़े पहने, परन्तु तैयारी का प्रश्न तो शब्बीर मियाँ का था। प्रसाद साहब उनसे बोले—

"अभी आप नहाए नहीं ?"

"मैं !" वह हँस कर बोले, "मैं तो दो मिनट में नहाया करता हूँ।" वह गुसलखाने में गये और पूरे दो मिनट के बाद लौट आए। प्रसाद साहब हैरान थे कि दो मिनट में तो मुँह भी नहीं धोया जा सकता और यह नहा कैसे सके। इस रहस्य को मैं जानता था कि

शब्बीर मियाँ सिर पर पानी डालकर बाकी पानी बहा दिया करते हैं। सर्दियों में वह एक बार प्रारम्भ में और एक बार अन्त में नहाते हैं, गर्मियों में हर महीने की समाप्ति पर।

सामान जल्दी-जल्दी सँभालकर हम नीचे उतरे। मोटर स्टार्ट हुई।

"क्या मेरा रेज़र रख लिया है ?" शब्बीर भाई बोले।

"नहीं तो।"

और मोटर से कूद पड़े। ऊपर आकर उसे ढूँढना शुरू किया। फिर नीचे आये। बिस्तर को मोटर की छत से उतारा, उसे खोला। लीजिए रेज़र यहाँ पड़ा था। बिस्तर को लपेट, मोटर की छत पर रखवाया और बैठ गए। मोटर चली। अभी दो मील गये होंगे, प्रसाद साहब मुझसे बोले—

"आप दालें ले आये हैं ?"

"नहीं तो।"

"लेकिन आपसे कहा गया था ?"

लारी फिर वापस हुई और हमारे मकान के पास आकर रुकी। दालें मीट सेफ में थीं। सेफ की चाबी दो दिन से गुम थी और ताला बहुत मजबूत था। उसकी कुण्डी तोड़ी गई और दालें निकाली गईं।

ड्राइवर ने कहा—

"अब सब चीजों को अच्छी तरह देख लीजिए, नहीं तो अब मैं रास्ते से नहीं लौटूँगा।"

कॉफ़ी हाउस वाली लड़की

कॉफ़ी हाउस वाली लड़की

"कल 'कॉफ़ी हाउस' में एक लड़की को अकेली बैठी देख, दयाभाव से द्रवित हो, मैं उसके पास जा बैठा। बातों-बातों में हम एक-दूसरे की ओर ऐसे खिंच गए जैसे वर्षों के साथी हों, यहाँ तक कि दोनों को प्रेम का सन्देह होने लगा।" नरेश ने सिगरेट का कश लगाते हुए कहा।

"मगर वह थी कौन ?" मैंने पूछा।

"वह गर्ल्स कालेज की एक स्टूडेण्ट थी।" उसने पहले से भी दीर्घ आह भरते हुए कहा, "और खूब थी। हम आधे घण्टे में एक-दूसरे से जैसे घुल-मिल गए। अगले दिन गर्ल्स कालेज में भेंट होने का निश्चय हुआ।"

"क्या तुम वहाँ गये ?"

"बिल्कुल ठीक समय पर—पूरे दस बजकर साढ़े सात मिनट पर।"

"दिन के ?"

"और क्या रात के ?"

"वह कहाँ थी ?"

वह तो वहाँ न थी। एक भोंडा-सा चपरासी था। लगभग दस मिनट मेरी ओर सन्दिग्ध नेत्रों से देखने के पश्चात् बोला—

"बाबू, क्या काम है ?"

"तमीज से बोलो जी। बाबू क्या होता है ?" मैंने उसे डाँट बताई।

"अच्छा तमीज से सही। तो बाबूजी क्या काम है ?" उसने पूछा। "क्या किसी लड़की से मिलना है ?"

"हाँ भइया, मिलना तो है।" मैंने पैंतरा बदलकर कहा।

"क्या नाम है उसका भला ?"

"नाम, नाम तो स्वयं मुझे मालूम नहीं।" मेरे मुँह से सहसा निकल गया।

"तो क्या शक्ल से पहचान सकते हो ?"

"क्यों नहीं ?" मैंने सहर्ष कहा।

"क्या मेरे साथ अन्दर तशरीफ ला सकेंगे ?"

"अन्दर, उसके लिए तो मैं कहीं भी जाने को तैयार हूँ !"

मैं उसके पीछे हो लिया। वह एक कमरे के पास जाकर रुका। मुझे वहीं रुकने के लिए कह, स्वयं चिक उठाकर अन्दर गया और शीघ्र लौटकर मुझे अन्दर लिवा ले गया।

सामने कुर्सी पर ऐनक लगाए एक महिला बैठी थी। कोई तीस वर्ष की उम्र होगी। रंग तो गोरा था, परन्तु शरीर मोटाई की ओर अग्रसर था और नाक भी। बाएँ कपोल पर एक छोटा-सा काला चिह्न था। मुझे यह निश्चय करने का समय ही नहीं मिला कि क्या वह उसके सौंदर्य को बढ़ाता है या कौरूप्य को। वह कुर्सी से कुछ इस प्रकार चिपकी बैठी थी जैसे बरसों से उसी दशा में बैठी हो। मुझे देखते ही उसकी आकृति पर मुस्कान की झलक प्रकट हुई, परन्तु दूसरे ही क्षण अदृश्य हो गई। अचानक मुझे यह सूझी कि यह वह लड़की नहीं।

"मुझे आपसे तो नहीं मिलना........" मैंने तुरन्त कहा।

"परन्तु मुझे आपसे मिलना है," वह बोली।

"मुझसे ? मुझसे मिलकर क्या करेंगी ?"

"सो तो पीछे बताऊँगी। परन्तु आप पहले यह बतलाइए कि आपको किससे मिलना है ?"

"यह पूछकर आप क्या करेंगी ?" मैंने आह भरकर कहा।

"शायद आपकी मदद कर सकूँ।"

"मदद, आप कितनी अच्छी हैं !" मैंने चाहा कि उठकर गले लगा लूँ, फिर खयाल आया कि स्त्री है, शायद बुरा मान जाय।

"वह तो आपको अभी पता चल जायगा।" वह अचानक वाणी में कटुता भरे हुए बोली, "कौन है वह लड़की ?"

सहसा हृदय ने कहा, यह प्रिंसिपल है। पूरे दो सैकण्ड के लिए मेरे होश उड़ गए, परन्तु सँभलकर बोला—

"वह मेरे चाचा की लड़की है।"

"क्या नाम है उसका ?"

"नाम ! भला नाम ही तो है, हाँ, याद आया शीला।" मुझे सहसा खयाल आया कि ठीक नाम याद न आने पर कोई नाम भी चल सकता है।

"किस कक्षा में पढ़ती है ?"

"फोर्थ ईयर में," मैंने एकदम कहा।

"किन्तु यह तो इण्टर कालेज है," वह ऐनक नीचे सरकाकर बोली।

"मेरा मतलब सैकंड ईयर में।" मैंने भूल को सुधारते हुए कहा, "मुझे उसकी बहन विमला की याद आ गई थी जो मोहनलाल कालेज में फोर्थ ईयर में पढ़ती है।"

"मोहनलाल कालेज में फोर्थ ईयर में केवल पाँच लड़कियाँ हैं और उनमें विमला नाम की कोई लड़की नहीं।" प्रिंसिपल बोलीं।

"कोई लड़की नहीं ! चलो न सही, हमें क्या ?" मैंने झगड़ा निपटाने के विचार से कहा।

"यह बात है !" प्रिंसिपल बोलीं, और इसके साथ उनका हाथ घण्टी पर जा रहा। काला-कलूटा दरवान तुरन्त आ मौजूद हुआ, जैसे अल्लादीन के लैम्प वाला देव था। उसने उसे शीला को बुलाने के लिए कहा। दो मिनट में वह उसे बुला लाया, किन्तु यह कॉफ़ी हाउस वाली शीला न थी।

"क्या यही लड़की है ?" प्रिंसिपल ने पूछा।

"जी," मेरे मुख से अनायास निकल गया, किन्तु मुझे अपनी भूल पर पश्चात्ताप भी हुआ।

"तुम इन्हें पहचानती हो ?" प्रिंसिपल ने पूछा।

"पहचानेंगी क्यों नहीं ?" मैंने मुस्कराने का असफल प्रयत्न करते हुए कहा।

"आप चुप रहिए जी," मुख्याध्यापिका बोलीं, "बोलो, पहचानती हो ?"

"मैं तो इन्हें नहीं पहचानती।"

"नहीं पहचानती होंगी," मैंने कहा, "लगभग अठारह वर्ष पश्चात् मिलने का अवसर मिला है न।"

"किन्तु मैं तो अभी सत्रह वर्ष की भी नहीं हुई," शीलादेवी बोली।

"तभी आपको याद नहीं।" मैंने झट कहा, "उस समय मेरे पिताजी और आपके पिताजी अर्थात् मेरे चाचाजी के बीच झगड़ा चल निकला था और हम कलकत्ता जाकर बस गए। मैं आज प्रातः ही तो वहाँ से आ रहा हूँ।"

"परन्तु प्रातः की गाड़ी तो सात घण्टे लेट है।" प्रिंसिपल बोलीं, जैसे स्टेशन मास्टर से अभी-अभी मिलकर आ रही हों।

"मेरा मतलब कल।" मैंने तुरन्त कहा।

"अच्छा, भला आप यह बतला सकते हैं कि शीला के माता-पिता कहाँ रहते हैं ?"

"अपने घर," मैंने कहा।

"कहाँ है उनका घर ?" सरकारी वकील ने अगला प्रश्न किया।

"घर !" मैंने अट्टहास से कहा, "क्या आपको इतना भी मालूम नहीं ? खैर शीलादेवी बतला देंगी और घर भी ले चलेंगी। चचा आपको बहुत पसन्द करेंगे।"

"बकवाद बन्द करो जी," वह गरजकर बोलीं। "शीलादेवी नहीं,

पुलिस बतलाएगी।"

"पुलिस !" मैंने हैरानी से पूछा, "अच्छा-अच्छा," मैंने सँभलकर कहा, "चचा पुलिस में हैं न ?"

"चचा शायद न हों, परन्तु आप जाने के लिए तैयार हो जाइए।"

"नहीं, मेरा विचार तो अभी बी० ए० पास करने का है, फिर विलायत की सोचता हूँ।"

"सोचने के लिए आपको जेल में काफी समय मिल जायगा।"

"मैं आपका मतलब नहीं समझा।"

"जरूरत भी नहीं। जेल में जाकर सब समझ जाइएगा। आवारा कहीं का।" और उसने झट टेलीफोन सँभाला और पुलिस का नम्बर माँगा।

मैं एकदम बदहवास हो उठा और भयभीत हो गया। यदि कोई दूसरा अवसर होता तो गश खाकर गिर पड़ता, परन्तु कम समय होने के कारण यह भी सम्भव न था। इतने में अचानक प्रोफेसर इन्दिरा कमरे में दाखिल हुईं। मुझे वहाँ देख विस्मित होकर बोलीं—

"बुद्धू, तुम यहाँ कैसे ?"

बुद्धू, मेरा बचपन का नाम था। यदि किसी और समय वह मुझे इस नाम से सम्बोधित करतीं तो मुँह-तोड़ उत्तर देता। परन्तु अब उनका आना मेरे लिए कितना शुभ था !

"मिस इन्दिरा, क्या आप इन्हें जानती हैं ?" प्रिंसिपल ने टेलीफोन के रिसीवर को नीचे रखते हुए पूछा।

"बुद्धू को," उसने हँसकर कहा, "इसे न जानूँगी तो किसे जानूँगी ?"

"जुग-जुग जिओ, मेरी रानी," मेरे हृदय ने उसे आशीर्वाद दिया।

"किसी सबब से मिलने आये होंगे ?"

"हाँ," प्रिंसिपल ने उत्तर दिया, "किन्तु आप हैं कौन ?"

"आप हैं दीवान श्यामकिशोर के पोते, दीवान कृष्णकुमार के बेटे, दीवान बुलाकीराम के नाती, दीवान गुलाटीराम के भानजे, दीवान····।"

"क्या तुम दीवान-वंश पर पुस्तक लिख रही हो ?" प्रिंसिपल झुँझ-लाकर बोलीं।

"लिखने का विचार तो था, परन्तु व्यावहारिक रूप में....।"

"खैर छोड़िए," प्रिंसिपल ने कहा, "मिस इन्दिरा के बीच में पड़ने से मैं पुलिस को सूचना नहीं दूँगी, परन्तु नियन्त्रण और डिसिप्लिन के विचार से मुझे आपके प्रिंसिपल को अवश्य रिपोर्ट करनी होगी।"

"बात क्या है ?" मिस इन्दिरा ने पूछा।

"आप साहब लड़कियों को फाँसने के लिए चक्कर काट रहे थे कि चपरासी ने पकड़ लिया।"

"परन्तु यह बिलकुल गलत है..." मैंने कहा।

"खामोश रहिए जी," प्रिंसिपल ने मेज़ पर मुक्का मारते हुए कहा, "आप मि० महाजन के पास जाकर सफाई पेश करना। आप तशरीफ ले जा सकते हैं।"

इतना कहकर नरेश कुर्सी में धँस गया और रूमाल निकालकर झलने लगा। मुझे उस पर दया आ गई—सुन्दर और जवान लड़का, दीवान वंश का दीपक। फिर बुद्धू...मैं अट्टहास से हँस पड़ा।

"तुम हँस रहे हो ?" नरेश रोष में बोला।

"बात ही ऐसी है।"

"परन्तु मैं तो किसी और ही विचार से आया था।" नरेश बोला, "शिक्षा-क्षेत्र में तुम्हारी जान-पहचान बहुत अधिक होने के कारण तुम इस प्रिंसिपल को भी जानते होगे। किसी प्रकार इसे रिपोर्ट करने से रोक लो, नहीं तो मैं कहीं का न रहूँगा। मेरे कालेज के एक्टिंग प्रिंसिपल आजकल महाजन साहब हैं। वसवानी साहब छुट्टी पर गये हैं, जिस लड़की से मेरी सगाई होने वाली है वह महाजन की भतीजी है। यदि यह रिपोर्ट, कि मैं कालेज की तितलियों के पीछे दौड़ता फिरता हूँ, उन तक पहुँच गई तो मेरे माथे पर कलंक का टीका लग जायगा। तुम मेरे मित्र हो इसलिए....।"

"क्या नाम है प्रिंसिपल का ?" मैंने गम्भीर होने का प्रयत्न करते हुए कहा।

"मिस अग्रवाल नाम है उसका। जानते हो ?"

मैं अट्टहास से हँस पड़ा।

"मतलब ?"

मुझे और भी हँसी आ गई।....मिस अग्रवाल....मिस अग्रवाल और मिस्टर मेहता...मेरा मन प्रसन्नता से नाच उठा और वे हैं प्रेमपत्र जो मिस अग्रवाल ने मेहता को लिखे थे।

और उसी दिन......

मैंने मिस अग्रवाल से मिलकर नरेश का दोष क्षमा कराने का प्रयत्न किया तो उन्होंने इस विषय पर बात करने से इन्कार कर दिया। उनके विचार में नरेश को क्षमा करना गुण्डापन को प्रोत्साहन देना था। "मैं लड़कियों के लिए उनके माता-पिता के सामने उत्तरदायी हूँ। इस प्रकार के लड़के और लड़कियों को दण्ड देना, जो इस तरह समाज को भ्रष्ट करें, न्याय नहीं तो और क्या है?" उन्होंने बिगड़कर कहा।

मैंने पूछा, "और इस प्रकार के स्त्री-पुरुषों को दण्ड देने के बारे में आपका क्या विचार है ?"

"क्या मतलब ?" मिस अग्रवाल कुछ हैरान-सी हो गईं।

"मेरा मतलब है कि मैं एक स्त्री और एक पुरुष को जानता हूँ जो इसी प्रकार समाज को भ्रष्ट कर रहे हैं। पुरुष का नाम है मिस्टर मेहता और........"

"कौन मेहता ?" वह घबरा उठीं।

"दूसरा नाम है मिस अग्रवाल, प्रिंसिपल।"

उनका चेहरा पीला पड़ गया....कुछ देर बाद....मैं उनसे वायदा लेकर वापस हुआ कि नरेश की रिपोर्ट नहीं की जायगी।

शाम को नरेश मिला तो कहने लगा, "अब जरूरत नहीं है उस प्रिंसिपल के पास जाने की। अब....।"

"क्यों ? क्यों ?" मैं हैरान हो उठा।

"मैं चाहता हूँ वह जरूर रिपोर्ट करें।"

"क्यों ?"

"मैं चाहता हूँ उस लड़की से मेरी सगाई न हो।"

"आखिर क्यों ?"

"वही कॉफी हाउस वाली लड़की आज मिल गई। मैंने पूछा कि मुझे यह चक्कर क्यों दिया था तो वह हँसने लगी। कल पचास रुपये ले गई थी, आज फिर माँगने लगी और पूछताछ करने पर वह उस महाजन की भतीजी निकली। ऐसी 'फ्लर्ट' से शादी करके क्या मुझे·····"

और मुझे हँसी आने लगी नरेश पर, महाजन की भतीजी पर···· और आखिर में अपने-आप पर····।

टेकराज

टेकराज

ज्योंही मैं अस्पताल के अहाते में प्रविष्ट हुआ, एक गेहुएँ वर्ण के डॉक्टर ने आगे बढ़कर मेरा स्वागत किया। टेकराज मेरे साथ थे, एक तीमारदार के नाते से। कुछ लोगों को यह शिकायत रही है कि स्वागत करने वाले डॉक्टर के स्थान पर लेडी डॉक्टर और गेहुएँ वर्ण की जगह यव-वर्ण होना चाहिए था। शिकायत की पुस्तक में बिलकुल यही शिकायत टेकराज ने दर्ज की।

एम्बुलेन्स कार ही में डॉक्टर आपसे आपका नाम और बाप का नाम पूछने लगता है। यद्यपि उसका व्यवहार शिष्टतापूर्ण था, फिर भी टेकराज पर इसकी प्रतिक्रिया यह रही कि यदि अस्पताल के प्रबन्धकों के पास पर्याप्त लेडी डॉक्टर नहीं हैं तो कम-से-कम डॉक्टर को यही आदेश मिलना चाहिए कि वह इन्हीं प्रश्नों को पूछकर सन्तोष रखें। परन्तु वह तो वहीं दर्द के विषय में पूछताछ करने लगा। यदि यह प्रश्न कोई नर्स पूछती तो टेकराज बुरा भी न मानते।

जनरल वार्ड में पहुँचते ही एक सफेद लम्बे कोट वाले डॉक्टर सीटी बजाते हुए, मेरी खाट पर आकर बैठ गए और प्रश्नों की बौछार करने लगे। "दर्द कहाँ है ?" "कैसे शुरू हुआ ?"........"कब शुरू हुआ ?" और फिर......"अब मैं जोर से दबाता हूँ, जहाँ दर्द हो फौरन बतलाइए"—"यहाँ है ?"—"यहाँ ?"—"यहाँ ?"

'नहीं' और 'हाँ' के साथ कई बार मैं चीखा भी। इस पर

डॉक्टर साहब मूड में आकर फिर सीटी बजाने लगे और सीटी बजाते हुए तशरीफ ले गए।

इतने में एक नर्स सिरिंज लेकर आ उपस्थित हुई और मेरा बाजू तलब करने लगी। मैं इस अचानक आक्रमण से ऐसा घबराया कि बाजू के बजाय हाथ आगे बढ़ा दिया। क्या चीज होती हैं ये नर्सें भी! आप हँसने लगीं और खूब जोर से, फिर बोलीं, "हाथ नहीं, बाजू, इंजेक्शन देना है।"

इंजेक्शन का नाम सुनकर मेरे रक्त की गति जैसे रुकने लगी, अर्थात् जो थोड़ा-बहुत रक्त डॉक्टर से भेंट के बाद रगों में दौड़ रहा था, वह भी मन्द पड़ गया। किन्तु नर्स को भला इसकी क्या परवाह! वह इंजेक्शन लगाकर चलती बनीं—गर्वित चाल से इठलाती हुई······ और फिर—

"उफ्!" किसी ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा।

मैंने गर्दन घुमाकर देखा तो टेकराज खड़े हैं और जाने वाली को हसरत-भरी निगाहों से देख रहे हैं और आहों पर आहें छोड़ रहे हैं।

इतने में एक दूसरे डॉक्टर आ धमके और वही प्रश्न पूछने लगे जो पहले डॉक्टर ने पूछे थे। अन्तर केवल इतना था कि इनके मुँह से सीटी की आवाज़ के बजाय सिगरेट का धुआँ निकल रहा था और गाने के बजाय खाँस रहे थे।

"आप लोगों को भी खाँसी हो जाती है, डॉक्टर साहब?" टेकराज विस्मय की सजीव मूर्ति बन गए।

"हाँ भाई, गत तीन वर्ष से यह मूजी पीछा नहीं छोड़ती।"

"आपको ज़ुकाम भी मालूम होता है?" टेकराज ने इस तरह कहा जैसे डॉक्टर से अगाध सहानुभूति हो।

"हाँ, है तो सही," डॉक्टर ने उत्तर में कहा, "परन्तु सख्त नहीं।"

टेकराज की शरारत को मैं समझ गया। उसके अधिक प्रश्नों को रोकने के लिए मैंने कहा, "डॉक्टर साहब, मेरा दर्द बढ़ रहा है।"

डॉक्टर ने मेरे शरीर पर उँगलियों से प्रहार करना आरम्भ कर दिया। मैंने तो डॉक्टर साहब को व्यंग का निशाना बनने से बचाया, उन्होंने नश्तर चुभोना आरम्भ कर दिया।

फिर कई डॉक्टरों और नर्सों की बैठक हुई। विषय था—मेरा दर्द—बहुमत से बीमारी 'अपण्डेसाइट्स' निश्चित की गई। तत्पश्चात् नर्स दो वार्ड बुआयेज़ के कान में कुछ कहकर चल दी।

कुछ क्षणों के बाद एक नाई मेरी खाट के पास आ उपस्थित हुआ। उसके हाथ में एक तेज़ धार का उस्तरा था। मैंने घबराकर उसकी ओर देखा। कहीं ऑपरेशन तो नहीं होने वाला है और वह भी उस्तरे से! परन्तु सन्देह अकारण था। वह तो मेरे पेट के बाल साफ करने आया था। उसके साथ उपसहायक के नाते एक मेहतर भी था। जब उसने अपना कार्य आरम्भ कर दिया तो उन दोनों में चुपके-चुपके बातें होने लगीं।

"राजा साहब," मेहतर नाई को शिष्टाचार से सम्बोधित करते हुए बोला, "क्या ऑपरेशन ठेटर (थियेटर) फिर खुल रहा है?"

"हाँ, भई खुल ही रहा है।" राजा साहब ने उस्तरा चलाते हुए बेरुखी से उत्तर दिया।

"ये मरीज़ लोग समय-असमय कुछ भी नहीं देखते। बस आन पड़ते हैं अस्पताल में। अब हमारे घर जाने का समय आया तो इन्हें ऑपरेशन कराने की सूझी।" मैंने चौंककर पूछा, "ऑपरेशन! किसका ऑपरेशन!!"

"किसी का नहीं साहब! कल की बात कर रहे थे हम तो।" और दोनों ने बातचीत बन्द कर दी।

परन्तु मुझे भ्रम हुआ कि ऑपरेशन थियेटर मेरे ही लिए खुल रहा है। नाई से पूछा—

"क्यों भई, ऑपरेशन में कुछ कष्ट भी होता है क्या?"

"जी नहीं," नाई ने ढाढस बँधाई।

"बिलकुल भी नहीं साहब !" मेहतर ने उसका अनुमोदन किया, जैसे ये दोनों रोज़ बिना कष्ट के ऑपरेशन कराते रहे हों।

मगर ये दोनों मुझे बहला रहे थे। इसके बाद मिस ईसार ने आकर मुझे मार्फिया का इंजेक्शन लगा दिया और सहानुभूति से भरी हुई बड़ी-बड़ी आँखों से देखती हुई चली गई।

इसके बाद ऑपरेशन।

और ऑपरेशन के बाद मार्फिया का असर उतर गया तो क्या देखता हूँ कि प्राइवेट वार्ड में हूँ और—अरे ! ये मेज़ के पास कौन स्त्री-पुरुष खड़े बातें कर रहे हैं और इतनी रात गये। यह स्त्री तो निश्चय ही मिस ईसार है—वही नर्स जो मार्फिया का इंजेक्शन दे गई थी और पुरुष टेकराज हैं। खूब ! इनको तो मेरी तीमारदारी के लिए मेरे साथ भेजा गया है। क्या खूब तीमारदारी हो रही है !

मैंने जलकर कहा, "हूँ।" वे बातें करने में इतने तल्लीन थे कि टस-से-मस न हुए। मैं झुँझला उठा। दिल में आया ज़ोर से चिल्लाकर कहूँ, "अजी टेकराज जी, बीमार मैं हूँ मिस ईसार बीमार नहीं हैं, जो आप इनकी तीमारदारी कर रहे हैं।"

परन्तु फिर मुझे उन पर दया आ गई—इस तरह घुल-मिलकर बातें हो रही थीं जैसे बरसों के बिछुड़े मिले हों। कभी एक-दूसरे के कान में बात करते। कभी हँसने लगते तो इस तरह कि लोट-पोट हो जाते। भई वाह, मैंने अपने दिल में कहा, यह भी अच्छी तीमारदारी है कि रोगी तो दर्द से व्याकुल है और यहाँ प्यार की पींगें बढ़ाई जा रही हैं।

"अरे, इतनी रात हो गई !" मिस ईसार ने सहसा चौंककर कहा। टेकराज ने घबराई नज़रों से उन्हें देखा।

"बस अब चलती हूँ।"

"वाह, अभी से !"

"हाँ।"

"फिर कब आओगी ?"

"कल।"

"तो हम भी चलें," वह बोला।

"मगर यहाँ रोगी की देखभाल कौन करेगा ?"

"निरंजन है न, वह कर-करा लेगा।"

सुना आपने ? मैं इधर दिल में टेकराज पर झल्लाता रह गया, उधर वे दोनों एक-दूसरे को बड़ी मीठी-मीठी निगाहों से देखते हुए दरवाजे के बाहर निकल गए।

यदि कोई यह कहे कि ऑपरेशन के बाद नींद नहीं आती तो वह बिलकुल गलत कहता है। नींद आती है परन्तु इस शर्त के साथ कि दूसरे दिन जब प्रातः सोकर उठोगे तो ऐसा प्रतीत होगा कि ऑपरेशन से केवल इसलिए जिन्दा बच गए कि अब मर सको। संसार में हर बात की सीमा होती है। नारी और शासक की हठ विख्यात है, परन्तु अनुभव ने यह बताया कि दर्द इनसे भी बढ़कर हठी होता है। न चिल्लाने से भागता है, न चीख-पुकार से डरता है। बेचारे निरंजन ने मेरी यह दशा देखी तो पेट पकड़े बाहर गया और एक नर्स को घेर लाया। उसने जाकर एक डॉक्टर को भेजा। डॉक्टर ने तसल्ली-पर-तसल्ली देनी शुरू की, परन्तु तसल्ली दर्द को दूर तो क्या कम भी न कर सकी। मैंने तंग आकर कहा, "रात वाला इंजेक्शन दे दीजिए।"

"घबराइए नहीं, सब ठीक हो जायगा।" कहकर डॉक्टर चला गया।

इसके बाद चार दिन तक खुराक की बजाय यही आश्वासन दिया जाता रहा और इसे हज्म करने के लिए मौसम्बी के रस का एक चमचा। मुझे इस दयनीय दशा में देखकर बुखार ने आ दबाया। मैं हैरान था—और बीमारियाँ क्यों नहीं आईं ? सिर-दर्द भी तशरीफ ले आये।

शरीर के अन्दर जैसे ज्वालामुखी दहक उठा। पूरे चार दिन बेचारी मिस ईसार उस ज्वालामुखी को अपनी सहानुभूति और ठण्डे पानी से

शांत करने की कोशिश करती रहीं।

हाँ, इस बीच तीमारदार का वर्णन करना तो भूल ही गया। वह पाबन्दी के साथ केवल उतनी ही देर मेरी खाट के इर्द-गिर्द मँडराते रहते। जब मिस ईसार वहाँ नहीं होतीं तो घर पधार जाते। पाँचवें दिन आये तो सूट पहने हुए थे। नेकटाई तो निस्सन्देह सूट से मैच करती हुई थी, परन्तु सूट उनके शरीर पर तंग था। ओहो, उनका अपना नहीं है ! छोटे भाई का पहन आए हैं। केवल तीमारदारी के लिए इस तरह शरीर पर सूट मढ़कर आने की क्या आवश्यकता थी ! परन्तु जब वह मेरे बिस्तर के पास पहुँचकर मुझसे बात करने की बजाय मिस ईसार की ओर आकृष्ट हुए तो कारण समझ में आया। सूट पहनने का सम्बन्ध रोगी से नहीं, किसी और से है।

"अभी तक चाय नहीं पी आपने ?" टेकराज विस्मित होकर बोले, मुझसे नहीं मिस ईसार से।

"पी क्यों नहीं !" उत्तर देने वाली के ओठों पर एक सुहावनी मुस्कान है और आँखों में सताने के विचार से चमकती हुई झलक।

"परन्तु मेरे सामने तो नहीं पी।" और निरंजन को फौरन चाय तैयार करने का आदेश दिया गया।

इधर निरंजन चाय तैयार कर रहा है, उधर बातों का क्रम आरम्भ हो चुका है। मगर मेरे कानों में उनकी भनक भी नहीं पड़ने दी जाती।

निरंजन ने चाय तैयार कर ली।

"हैं ! खाली चाय !!" टेकराज चिल्लाये, "क्या बिस्कुट वगैरह कुछ भी नहीं है ?"

"हैं तो सही," निरंजन ने उत्तर दिया, "मगर वे तो साहब के लिए हैं।"

"क्या साहब हमसे बहुत बड़े आदमी हैं ? (त्योरियाँ चढ़ाकर) ऑपरेशन क्या हुआ एक आफत हुई।"

"यह बेचारे बीमार हैं न, और कुछ खा भी नहीं सकते बिस्कुटों के

अतिरिक्त।" मिस ईसार ने मेरी ओर से वकालत की।

"अच्छा, यह बात है !" और क्रुद्ध मुद्रा बनाए टेकराज जी बाहर चले गए।

मिस ईसार बेचारी उनका मुँह ताकती रह गई।

"क्रैंक हैं," मैंने उसका दिल रखने के लिए कहा।

"परन्तु हैं बड़े अच्छे आदमी," उसने कहा और मुझे विस्मय में डाल दिया। और जब उसकी आँखों में आँसू देखे तो खयाल आया कि कहीं टेकराज और यह नादान लड़की·····

अभी मैं इसी सन्देह में था कि वह उठकर चली गई।

चार दिन के असहनीय दर्द के बाद मैंने कुछ आराम महसूस किया। अचानक खयाल आया, टेकराज कहाँ हैं ? कई दिन से नज़र नहीं पड़े। मालूम हुआ कि आते तो हैं, मगर रात को, जब मिस निगप्पा तशरीफ लाती हैं। उस समय मैं सोया होता हूँ। बहुत अच्छा, आज रात नहीं सोऊँगा। टेकराज से बात करके जी बहलेगा। परन्तु रात को टेकराज जब आये तो निरंजन के पास आकर बैठ गए और जब मिस निगप्पा इंजेक्शन देने आई तो निरंजन से भी उसी तरह सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया जैसे उससे भी कोई जान-पहचान ही न थी। अब वह मिस निगप्पा से घुल-मिलकर बातें कर रहे थे, "अजी जनाब, इस बेचारी को अपना काम तो पूरा कर लेने दो।" कई बार यह वाक्य मेरी जिह्वा पर आकर रह गया।

फिर निरंजन को चाय तैयार करने का आदेश दिया गया, परन्तु मालूम हुआ कि मिस निगप्पा के पास चाय की प्रतीक्षा का समय ही नहीं।

"तो दूध पी लीजिए," टेकराज ने कहा।

"दूध कैसे लिया जा सकता है?" निरंजन के मुँह से सहसा निकल गया।

"हाँ और क्या ?" मिस निगप्पा हँसी, "दूध तो बच्चे पिया करते हैं

या बीमार, मैं न बच्ची हूँ न बीमार।"

"नहीं, नहीं।" टेकराज भला कब उसका पीछा छोड़ने वाले थे। "आपके इन्कार का असली कारण यह है कि आप लोगों को दूध का टेस्ट पसंद नहीं आता। क्यों न इसे ओवल्टीन से स्वादिष्ट बना दिया जाय? निरंजन, दूध में ओवल्टीन मिलाओ।"

निरंजन को आज्ञा-पालन करना पड़ा। जितनी बार मिस निगप्पा कमरे में आती, उसे ओवल्टीन मिला दूध पीना पड़ता। मिस ईसार की ओर से दयादृष्टि हट चुकी थी। अब निगप्पा कृपापात्र बनी हुई थी। चाय, दूध, ओवल्टीन, अण्डा, बिस्कुट, संतरा, मोसम्बी से उसकी सेवा की जाती।

परन्तु कुछ दिन बाद उसे भी नजरों से गिरा दिया गया। अब मिस इब्राहीम आँखों में समाई, उसके बाद मिसेज़ चम्पत। फिर मिसेज़ गुणाकर, फिर मिस गुलकर, मिस जामनकर, मिस कुमार, मिस चंचल और फिर मिस ईसार। और यह चक्कर फिर नये सिरे से शुरू हो गया। केवल इस बात का ध्यान रखा गया कि इस लिस्ट में रोगी का नाम न आये और यह भी कि उसके लिए जितनी चीजें घर से भेजी जायँ उनमें से एक भी उसके मुँह तक न पहुँचे।

आखिर तंग आकर मैंने डॉक्टर से घर जाने की आज्ञा माँगी। टेकराज ने मेरा विरोध किया। उसने डॉक्टर से स्पष्टतया कह दिया कि घर जाकर रोगी को कोई शिकायत पैदा हुई तो उसके उत्तरदायी केवल आप होंगे जो इसे घर जाने की आज्ञा देने के लिए तैयार हैं। भला रोगी को घर पर अस्पताल जैसा आराम कहाँ मिल सकता है!

मैंने दबी ज़बान से कहा, "घर पर पूरी खुराक तो मिलेगी, यहाँ तो अतिथियों के स्वागत में ही चली जाती है।"

इस वाक्य से टेकराज इतने क्रुद्ध हुए कि 'प्रोटेस्ट' के तौर पर कमरे से बाहर चले गए और पूरे दस मिनट तक बाहर रहे तथा उसी समय अन्दर आये जब मिस गुलकर अपने सुन्दर गोरे हाथों में कुनीन मिक्सचर

लिये प्रविष्ट हुई ।

तीन सप्ताह पश्चात् वह दिन आया जिसकी मैं बेचैनी से प्रतीक्षा कर रहा था । उन्होंने इस पक्ष में प्रबल तर्क-वितर्क किया कि मुझे अस्पताल में रहना चाहिए । परन्तु एक तो मैं उनकी सहानुभूति का असली कारण जानता था, दूसरे मैं अस्पताल के वातावरण से घबरा चुका था —सफेद दीवारें, सफेद कपड़े और सफेद दिल—हर ओर सफेदी । जब टेकराज ने देखा कि मैं उनकी बात नहीं मानता तो उन्होंने दूसरों से कहलवाना शुरू किया । परन्तु मैं घर जाने का दृढ़ निश्चय कर चुका था और अब इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता था । इस पर वह छिप-छिपकर रोने लगे और निरंजन उनके दर्द का साथी बन गया । उसने एक दिन टेकराज से कहा—

"बाबूजी, आप स्वयं बीमार क्यों नहीं पड़ जाते ?"

"मैं !" टेकराज को जैसे अन्धकार में मार्ग सुझाई देने लगा ।

"हाँ, बात तो ठीक है । मैं भी बड़ा मूर्ख हूँ । यह बात मुझे सूझी ही नहीं । परन्तु," कुछ सोचकर बोले, "अभी नहीं, मैं एक मास के बाद बीमार पड़ सकता हूँ ।"

"उस समय तक तो सारा बना-बनाया काम बिगड़ चुका होगा ।" निरंजन ने चेतावनी देते हुए कहा ।

"हाँ, यह तो ठीक है ।" टेकराज गम्भीरता से बोले, "परन्तु आज-कल तो मुझे बीमार पड़ने का अवकाश ही नहीं मिल सकता । सरला के लिए साड़ी खरीदनी है, निर्मल के जूते बनवाने हैं, सुशीला के पास कोई अच्छी चप्पल नहीं है, सुलेखा को शलवार के लिए लट्ठा चाहिए और बलवन्त को चूड़ियाँ ।"

और जब हम अस्पताल से विदा हो रहे थे तो टेकराज का फूलदार रेशमी रूमाल वाला हाथ बार-बार आँख की ओर उठ रहा था ।

नया मार्ग

नया मार्ग

सारा गाँव चौक में जमा था। लोग अपने-अपने काम छोड़कर वहाँ इकट्ठे हो रहे थे।

जमींदारों ने रहट चलाने, कुदाली करने और रस पेरने का काम बन्द कर दिया था। दरजियों की दुकानें बन्द थीं। पनसारियों की दुकानें खुली हुई थीं, लेकिन उन पर छोटे-छोटे लड़कों को बिठा दिया गया था और दुकानदार स्वयं चौक में पहुँचे हुए थे। महाजनों ने दुकानों के बाहर बिछी हुई मैली और फटी दरियों को लपेटकर दुकानों के अन्दर रखा, हुक्कों की चिलमों में नई आग भरी, दुकानों को ताला लगाया और हुक्के उठा चौक में आ बैठे, भंगी तो अपना काम कर ही चुके थे। घरों में बैठे रहने के बजाय वे भी चौक ही में आ पहुँचे। खेतों में काम करने वाले चमार भी खाली ही थे। मोचियों ने भी काम बन्द करके वहीं पहुँच जाना मुनासिब समझा। स्त्रियाँ भी छतों पर आ बैठीं।

आज पंचायत के सामने बिशनदास की पेशी थी।

चबूतरे पर दरी बिछी हुई थी और उस पर चारों पंच बैठे थे। वहीं पंचों से ज़रा दूर, दूसरों से हटकर, भंगी बैठे थे। ये गवाह थे। अभियुक्त उनके सामने खड़ा था।

मुकदमा शुरू हुआ।

सरपंच ने अभियुक्त से पूछा, "क्या यह सच है कि तुमने कल रात

मरघट पर जाकर जलती चिता से लकड़ियाँ चुराईं ?"

अपराधी खामोश रहा।

"हमारी बात का उत्तर दो," सरपंच ने गवाहों को सम्बोधित करते हुए कहा, "क्या अभियुक्त ने कल रात मरघट पर जाकर जलती चिता से लकड़ियाँ चुराईं ?"

गवाहों ने सिर हिलाकर कहा, "हाँ।"

"तुम्हारे पास इसका क्या प्रमाण है ?"

"हुजूर," चार-पाँच गवाह इकट्ठे होकर बोलने लगे।

"सब नहीं," एक पंच ने उन्हें रोका। "चन्दू, तुम बतलाओ।"

चन्दू खड़ा हो गया और बोला—

"हुजूर, कल रात हम सो रहे थे। सहसा कुत्तों के जोर-जोर से भूँकने की आवाज़ से हमारी आँख खुल गई। हम समझे, कोई जानवर है। लाठियाँ लेकर बाहर निकले। देखा तो कुत्ते एक आदमी पर भूँक रहे थे। अँधेरे में हम उस आदमी को पहचान न सके....."

"क्या तुम्हारे पास लालटेन नहीं थी ?" सरपंच ने पूछा।

"थी क्यों नहीं हुजूर, मगर हम सब आगे बढ़ गए थे और तुलसी, जिसके पास लालटेन थी, वह पीछे रह गया था।"

"फिर ?"

"हम समझ गए कि यह तो कुछ और मामला मालूम होता है। हम चोर के पीछे भागे। शायद वह हमारी लाठियाँ देखकर भयभीत हो गया, अथवा कुत्तों से डर गया। वह एकदम से रुक गया। हमने उसे पकड़कर मुशकें बाँध लीं....

"........इतने में तुलसी लालटेन लिये हुए आ गया। जब हमने प्रकाश में उसकी शक्ल देखी तो हैरान रह गए। चोर यह विशनदास था और यह मरघट की जलती चिता की लकड़ियाँ चुराकर ले जा रहा था।"

"बस ?"

"जी हुजूर !"

"वे लकड़ियाँ कहाँ हैं ?" एक पंच ने पूछा।

"ये रहीं हुजूर," दुल्ले भगी ने लकड़ियाँ आगे बढ़ाते हुए कहा।

सबकी नज़रें उन लकड़ियों पर जम गईं। छः-सात लम्बी-लम्बी अधजली बल्लियाँ थीं। सबने पहले उन बल्लियों को देखा, फिर विशनदास की ओर, फिर एक-दूसरे की ओर देखकर सिर हिलाने लगे। हर ओर से 'छिः छिः छिः' की आवाजें आने लगीं। लोग अभियुक्त की ओर घृणा से देख रहे थे। जैसे कह रहे थे—बदज़ात, शरम नहीं आती तुझे ऐसा काम करते ! तूने गाँव का नाम डुबो दिया।

पंच परस्पर परामर्श करने लगे। दर्शक बातें करने लगे। स्त्रियों में फुसर-फुसर शुरू हो गई—

"देखना बहन, उस मुए को ऐसा करते लाज भी न आई।" वंती बोली।

"बहन कलजुग है," हरो लुहारिन ने कहा।

"भला आज तक कभी ऐसा सुनने में भी आया था ?" गुजरी सुनारी कहने लगी।

"फटकार है ऐसे दुष्ट पर," कर्मी महरी बोली।

"खामोश !" सरपंच की आवाज़ गूंजी।

"चुप हो जाओ, चुप हो जाओ।" सब एक-दूसरे को खामोश कराने लगे। पल-भर में सारे जनसमूह पर सन्नाटा छा गया।

"क्या तुम्हारे पास इस अभियोग का कोई उत्तर है ?" सरपंच ने अभियुक्त से पूछा।

अपराधी उसी तरह मूक खड़ा रहा।

"तो इसका मतलब है कि तुम अपना अपराध स्वीकार करते हो। हम अपना निर्णय सुनाते हैं।"

"नहीं," भीड़ में से एक ओर से आवाज़ आई।

सबकी नज़रें उस ओर उठ गईं। लोग ज़रा ऊँचे हो-होकर देखने

लगे कि यह कौन बीच में कूद पड़ा। आखिर यह व्यंग तो बिलकुल असंगत है। यह क्या मज़ाक है? यह तो पंचायत को अपमानित करना हुआ।

"यह किसकी आवाज़ है?" सरपंच कड़का।

"मेरी।"

सब लोग एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे—यह तो रामचन्द्र है। क्या इस जैसा बुद्धिमान व्यक्ति भी ऐसी छोटी बात कर सकता है? पंचायत का अपमान करना तो अपराध होता है।

पंच पहले तो विस्मित हो गए, फिर सहसा सँभल गए। रामचन्द्र को गाँव में कौन नहीं जानता था! उसकी विद्वत्ता से हर कोई परिचित था। गाँव के लोग बहुधा उससे परामर्श करते थे और हर मामले में अधिकतर उसकी बात मानी जाती थी। उसकी राय में वज़न, तर्क में शक्ति और विचारों में सन्तुलन होता था। उसकी बात को व्यंग में उड़ा देना या टाल जाना सम्भव न था। इस विषय में जो उसने हस्तक्षेप किया है उसका कुछ अवश्य अर्थ होगा।

सरपंच ने रामचन्द्र को सम्बोधित करके कहा, "आप कहते हैं कि हम अभी फैसला नहीं सुना सकते। क्या अभियुक्त को दण्ड देने में अभी हम पर कोई प्रतिबन्ध है?"

"जी हाँ," रामचन्द्र बोला, "मैंने यही कहा है।"

"यह आपको विदित ही होगा कि गवाहों ने अपराधी के विरुद्ध गवाही दी है। उसका अपराध भी प्रमाणित हो गया है और उसने अपनी सफाई में कुछ नहीं कहा है।"

"यह सब तो मैं सुन रहा हूँ और देख भी रहा हूँ, परन्तु यह अपराध दण्ड योग्य नहीं है।"

"दण्ड योग्य नहीं है!" एक पंच विस्मित हो उठा, "कारण?"

"अभी बतलाता हूँ," रामचन्द्र ने कहा, "आप पंच हैं। आप ने एक व्यक्ति पर चोरी का अभियोग लगाया। गवाहों ने उसका अनुमोदन

किया। अपराध सिद्ध हो गया, परन्तु क्या आपने उस व्यक्ति के भाव (intention) को समझने का प्रयत्न किया ?"

"इसमें भाव समझने की क्या बात है ?" पंच ने पूछा।

"अपराध निश्चित करते समय अपराधी के भावों का बहुत महत्त्व होता है। कत्ल के अभियोग में भी यदि अपराधी की मंशा कत्ल करने की नहीं थी और फिर भी उसने कत्ल कर दिया तो अदालत उसे फाँसी का दण्ड नहीं देती। मोटर ड्राइवर इतने व्यक्तियों को मार देते हैं परन्तु उन्हें मृत्यु-दण्ड नहीं दिया जाता, क्योंकि उनका इरादा कत्ल करने का नहीं होता। इसी प्रकार चोरी के अभियोग में भी हमें मंशा अथवा इरादे को अवश्य देखना चाहिए। अब मैं आप लोगों से पूछता हूँ कि आपके विचार में अपराधी का इरादा अथवा मंशा क्या था ?"

"चोरी, और क्या ?" एक पंच बोला।

"लेकिन उसने चोरी क्यों की ?"

"अजीब प्रश्न है।" एक दूसरे पंच ने कहा, "यह आप अपराधी से पूछिए।"

"अपराधी से नहीं, मैं तो आपसे पूछता हूँ।" रामचन्द्र बोला। "उसे दण्ड तो आप ही दे रहे थे न ?"

"आपका प्रश्न समझ में नहीं आया।" वही पंच कहने लगा।

"मैं केवल यह पूछता हूँ कि जब अभियुक्त मरघट पर लकड़ियाँ चुराने गया तो उसने लकड़ियों की चोरी किसी विशेष आवश्यकता से विवश होकर की थी अथवा केवल चोरी के इरादे से ?"

"इसका उत्तर तो अपराधी ही दे सकता है।"

"अपराधी की ओर से इसका उत्तर मैं देता हूँ," रामचन्द्र ने कहा, "वह गाँव-भर में सबसे गरीब आदमी है। वह दरजी का काम करता है, परन्तु वह मशीन भी नहीं खरीद सकता। उसका पिता भी दरिद्र था और एक दरिद्र पिता मरते समय अपने पुत्र के लिए दरिद्रता के अतिरिक्त और कुछ नहीं छोड़ सकता। अभियुक्त का चचा,

सगा चचा, धनी है। उसने शहर में दरजी की दुकान कर रखी है। उसकी यह दुकान खूब चल रही है। सुना गया है वह बहुत दानी है और खूब दान करता है। यह भी मालूम हुआ है कि प्रति वर्ष वह हरिद्वार जाता है ताकि साल-भर के पाप गंगा माई में बहा आए। वह बड़े आदमियों को निमन्त्रण देता है, परन्तु आज तक उसने अपने भतीजे और उसके बाल-बच्चों को फूटी कौड़ी नहीं दी। गाँव और शहर में यह अन्तर होता है कि शहर में एक ही मुहल्ले में बसने वाले एक-दूसरे के दर्द के साथी तो दूर, एक-दूसरे से परिचित भी नहीं होते। परन्तु ग्राम एक शरीर होता है, एक अंग के कष्टमय होने से सब अंग व्याकुल हो जाते हैं। परन्तु इस युग में इस अंग का रक्त भी सफेद हो गया है। एक अंग के कष्ट से दूसरा नाममात्र भी प्रभावित नहीं होता। यदि ऐसा न होता तो क्या बिशनदास की इस दरिद्रता को देखकर हम लोग लेशमात्र भी न पसीजते? क्या हम इस कड़ाके की सर्दी में उसके और उसके बच्चों के लिए ईंधन और कपड़ा जुटाने के बजाय उस पर अभियोग चलाते? लकड़ियाँ चुराने का अपराध उस पर नहीं, गाँव पर लगाना चाहिए। तुम सबने उसे शीत से बचाने के लिए क्या किया?"

"यह हमारा काम कहीं है," एक पंच बोला।

"उस पर मुकद्दमा चलाना तुम्हारा काम है।"

"यह कानूनी कार्यवाही है।"

"शहर में कानून का यह अर्थ लगाया जा सकता है, गाँव में नहीं। प्राचीन काल में इसलिए पंचायत होती थी कि वह सारे गाँव का प्रबन्ध करे। उसका काम अपराधियों को दण्ड देना ही नहीं, जुर्मों का बन्द करना भी था। केवल दण्ड देने से अपराध कभी रुक नहीं सकते, वे तो उनके उन्मूलन करने से ही रुक सकते हैं। हमें गाँव को एक कुटुम्ब मानकर उस कुटुम्ब के बच्चों को मारने-पीटने, जुर्माना करने अथवा जेल भेजने के बजाय उनके कष्ट-निवारण का साधन जुटाना

चाहिए ।"

"हमारा काम तो फैसला करना है," एक पंच बोला।

"यह गलत है। हमने आपको गाँव की दशा सुधारने के लिए पंच बनाया है, बिगाड़ने के लिए नहीं।"

"यह आप कैसे कह सकते हैं कि अपराधी को दण्ड देकर हम गाँव की हालत बिगाड़ रहे हैं ?"

"आप बिगाड़ रहे हैं, क्योंकि आप समझ रहे हैं, कि दण्ड देने से जुर्म रुक जायँगे। आप विशनदास पर चालीस रुपये जुर्माना करेंगे। इतना जुर्माना इसकी पीढ़ियाँ भी अदा नहीं कर सकतीं। जुर्माना अदा करने के लिए वह चोरी करेगा, पकड़ा गया तो जेल में सड़ेगा। उसकी स्त्री बच्चों को पालने के लिए किसी के घर की दासता करेगी या अपना सतीत्व बेचेगी। उसके बच्चे गली-गली भीख माँगते फिरेंगे। आपके एक गलत फैसले से गाँव का एक खानदान तबाह हो जायगा। दूसरों पर इसका कितना कुप्रभाव पड़ेगा और आप कहते हैं कि आप कुछ बिगाड़ ही नहीं रहे हैं।"

उपस्थित व्यक्तियों ने सिर हिलाकर रामचन्द्र का अनुमोदन किया। स्त्रियों ने कानाफूसी शुरू की। वे विशनदास से सहानुभूति प्रकट करने लगीं—

"बहन, देख न मुए भाई को," रामकौर बोली, "आप अच्छा खाता-पीता है, यह नहीं कि कभी गरीब भाई को भी चार पसे भेज दे।"

"हाँ बहन कलजुग है," रुक्मिणी अपनी ठुड्डी पर उँगली रख कहने लगी, "माँ गाँव में गोबर इकट्ठा करती फिरती है, भाई चोरी करता है, मुआ आप ऐश कर रहा है।"

"मैं होती तो ऐसे बेटे को गोली मार देती," परतापी जुलाही बोली।

"मैं होती तो खून पी जाती," रामू नट की पत्नी बोली।

"अरी बहन, बस कुछ न पूछ। घोर कलजुग है।" रामरखी ने बात

को समाप्त करने के ढँग से कहा ।

"खामोश," सरपंच ने ऊँची आवाज़ में कहा ।

"चुप हो जाओ, सब चुप हो जाओ ।" एक व्यक्ति खड़ा होकर चिल्लाने लगा ।

हुक्का पीने वालों की गड़गड़ाहट बन्द हो गई । बीड़ी पीने वालों ने अपनी-अपनी बीड़ियाँ बुझाकर बचे हुए टुकड़े कानों पर या पगड़ियों के बीच रख लिये । सबने पंजों पर बैठकर अपनी-अपनी पगड़ियों को दोनों हाथों से ठीक किया, खाँसने वाले जल्दी-जल्दी खाँस लिये ताकि बीच में न खाँसना पड़े और सब खामोशी से पंचों की ओर देखने लगे ।

"आप क्या चाहते हैं ?" सरपंच ने रामचन्द्र की ओर देखते हुए कहा ।

"मुयें, मुयें, मुयें ।" जैसे सरपंच को उत्तर मिला हो । कई लोग खिलखिलाकर हँस पड़े ।

"यह किसका बच्चा है ?" सरपंच ने चिल्लाकर कहा ।

"मुयें, मुयें, मुयें ।"

"सुनती नहीं," वह एक कोठे की छत की ओर देखकर बोला । कौन बच्चा रो रहा है ? (और जब मालूम हो गया कि किसका बच्चा है) अरी पति की हत्यारी, ओ बंतो की बच्ची, (वह अपनी लड़की को सम्बोधित कर रहा था) तुमसे अपने बाप को खामोश नहीं किया जाता । जा ले जा, इसे यहाँ से । सुनती नहीं ?"

बंतो बच्चे को लेकर नीचे उतर गई । उसके शब्द सबको सुनाई दे रहे थे, "मुआ, कोढ़ी, रण्डी छोड़ना । नाना की तरह चिल्ला रहा है । इसे मौत भी तो नहीं आती ।"

उसकी आवाज़ सरपंच ने भी सुनी, परन्तु उस समय चुप रहने के अतिरिक्त वह कर भी क्या सकता था !

फिर खामोशी छा गई ।

"हाँ, रामचन्द्र जी," सरपंच ने अपनी बात दुहराई, "आप क्या चाहते हैं ?"

"मैं यह चाहता हूँ," रामचन्द्र ने कहा, "कि हमें बिशनदास अथवा उस जैसे दूसरे व्यक्तियों को दण्ड देने के बजाय जुर्म को उखाड़ फेंकना चाहिए ।"

"किस तरह ?"

"मेरी राय में हमें बिशनदास जैसे गरीबों के लिए काम ढूँढना चाहिए । यदि कोशिश की जाय तो यह कुछ कठिन नहीं । बड़े जमींदारों के साथ इन्हें खेती में लगाकर वेतन दिलाया जा सकता है । दुकानदारों के साथ शहर जाकर ये उनको सामान लाने में सहायता दे सकते हैं । और भी बहुत से ऐसे काम हैं जो इन गरीब लोगों को दिलाये जा सकते हैं । इसके साथ ही हमें एक दरिद्र फण्ड कायम करना होगा । इस फण्ड में हर व्यक्ति फसल के अवसर पर अपनी हैसियत के अनुसार पैसे या अनाज देकर अपना हिस्सा अदा कर सकता है । इस फण्ड के प्रबन्ध के लिए गाँव के प्रतिष्ठित तथा न्यायप्रिय व्यक्तियों की एक समिति होनी चाहिए । उस समिति के जिम्मे चार काम होंगे—(१) पैसा अथवा अन्न जमा करना, (२) उसका प्रबन्ध करना, (३) दरिद्र के लिए काम जुटाना, (४) आवश्यकता के समय उन्हें और उनके कुटुम्बों को सहायता देना ।"

"कहना तो आसान है और करना कठिन होता है," एक पंच ने कहा ।

"यदि दृढ़ संकल्प हो तो करना भी आसान है ।" रामचन्द्र बोला ।

"अच्छा, आप तो केवल पति-पत्नी हैं । आपका खर्च भी ज्यादा नहीं । आप इस दरिद्र फंड में क्या देते हैं ?" एक पंच ने कहा ।

"खैर, यह तो न कहिए कि मेरा खर्च ज्यादा नहीं । हो सकता है कि आपके पन्द्रह व्यक्तियों के कुटुम्ब से हम दो व्यक्तियों का खर्च अधिक हो । (लोग अट्टहास के साथ हँसने लगे । यह पंच अपनी कंजूसी के लिए विख्यात थे ।) मगर गरीब फंड के लिए आप मुझसे चन्दा माँग सकते हैं । परन्तु अपना चन्दा देने से पहले मैं गाँव के मशहूर युवक

सेठ रणवीर की ओर से पाँच सौ रुपये पेश करता हूँ।'' और पाँच सौ रुपये के दस-दस के नोट उसने सरपंच के आगे फेंक दिए।

तालियों की आवाज़ से आकाश गूँज उठा। लोगों ने पंचों की ओर देखा। पंचों के पास ही दरी पर बैठे हुए छोटे भाई रणवीर की ओर देखा और रणवीर ने रामचन्द्र की ओर।

रणवीर जैसे रामचन्द्र से कह रहा था—यह क्या गजब ढा दिया ?

और रामचन्द्र जैसे कह रहा था—चिन्ता मत करो।

"और" रामचन्द्र की आवाज फिर बुलन्द हुई, (एकदम खामोशी छा गई) "अपनी ओर से मैं सौ रुपये भेंट करता हूँ।" और उसने दस-दस रुपये के दस नोट सरपंच के सामने रख दिए।

करतल-ध्वनि फिर गूँजी। महफिल का रंग ही बदल गया। गवाह आँखें नीची किये अपना अपराध स्वीकार कर रहे थे। गरीब गरीब के विरुद्ध ही गवाही देने आये। भूखे का शत्रु भूखा ! गन्दगी उठाकर भी मुहताज रहने वाले एक दूसरे, भूख से उत्पीड़ित और शीत से व्याकुल, गरीब को अपराधी सिद्ध करने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगा रहे हैं !

और पंच, जिन्हें गाँव के लोगों ने अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए प्रहरी नियुक्त किया है, इस गाँव के एक दरिद्र का कष्ट निवारण करने के बजाय उसको दण्ड दे रहे हैं।

धिक्कार है इन सब पर !

चन्दे की वर्षा होने लगी। एक-दूसरे की देखा-देखी सबने चन्दा देना शुरू किया।

"हुजूर," चन्दू भंगी दोनों हाथ जोड़े पंचायत को सम्बोधित कर रहा था, "हम अपने किये पर बहुत लज्जित हैं।"

"तुम लोगों ने जो किया बिलकुल ठीक किया," रामचन्द्र बोला, "तुमने अपना कर्तव्य-पालन किया।"

मुन्शी मेहतर उठकर बोला, "नहीं हुजूर, हमें बहुत दुःख है कि हमने

अपने जैसे एक गरीब भाई के खिलाफ गवाही दी। हम सब भी आठ-आठ आने गरीब फंड में जमा करते हैं।" और उसने दो रुपये आगे बढ़ा दिए।

लोगों ने करतल-ध्वनियों से इस भेंट का स्वागत किया। स्त्रियाँ दुपट्टों के आँचल से आँखें पोंछ रही थीं। विशनदास की आँखों से आँसू बह रहे थे।

कभी तो जागेगा तेरा दिल भी

कभी तो जागेगा तेरा दिल भी

"वे निगाहें," उसने कहा, "जब कभी मुझे उनकी याद आ जाती है तो वे न जाने क्या-क्या कहती मालूम होती हैं। उनमें पश्चात्ताप भी था और ···· ····और···· ····?" वह मूक हो गया, उसी तरह जैसे आगे कुछ कहने के लिए उसे शब्द नहीं मिल रहे हों। फिर कहने लगा—

"जैसा कि मैं बता चुका हूँ, मेरे माता-पिता दोनों में प्रतिदिन जूता चला करता था। जूता मेरे पिता ही प्रयोग में लाते थे; मुक्के, थप्पड़ और कभी-कभी लातें और डंडा भी। वह प्रायः मदिरा पीकर आते और अकारण ही माताजी को पीटना शुरू कर देते। एक दिन यथाक्रम लड़खड़ाते हुए घर में दाखिल हुए। उनके मुँह से उस समय दुर्गन्ध आ रही थी। वैसे तो हम इस प्रकार की दुर्गन्ध के अभ्यस्त हो चुके थे, परन्तु उस दिन दुर्गन्ध इतनी अधिक थी कि ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे मदिरा खींचने की भट्टी हमारे ही घर में लगी हुई है। पिताजी की यह दशा देखकर मुझे बड़ी घृणा हुई और मैं नाक सिकोड़ने लगा। लेकिन उनकी दृष्टि मुझ पर नहीं पड़ी। अपने स्वभावानुसार वह माँ पर झपटे और उसे अन्धाधुन्ध मारने लगे।

माताजी ने इस मार-पीट का सामना प्रथम तो अपनी वाणी के बाणों से किया, फिर मेरी ओर अश्रुपूर्ण दृष्टि देकर बोलीं—

"माता को पिटते देखकर तेरा खून नहीं उबलता ? क्या इसी दिन के लिए रक्त चुसाकर तुझे इतना बड़ा किया है ?"

मेरी आयु उस समय बीस-इक्कीस वर्ष की होगी और व्यायाम के कारण मैं खूब हृष्ट-पुष्ट था। परन्तु माँ की पुकार सुनकर मूर्ति बना खड़ा रहा। कारण वर्षों से मारपीट का वह दृश्य देखते-देखते मेरी आँखें इस बात की अभ्यस्त हो गई थीं।

मेरे लिए पिता का प्रतिदिन मदिरा पीकर आना और माँ को मारना उनकी दिनचर्या बन चुका था।

एक-दो घर में नहीं वरन् सारे ग्राम में हमारे घर की चर्चा थी। हमारे पड़ोसी भी माँ की जोर-जोर से चीखें सुनने के अभ्यस्त थे। इस कारण उन पर क्रन्दन और विलाप का कुछ भी प्रभाव न होता और न उनको तनिक दया आती। माँ ने मुझे सहायतार्थ बुलाया तो पिताजी को और भी अधिक क्रोध आया और उन्होंने माँ को और भी जोर-जोर से मारना प्रारम्भ किया।

"हाय मैं मरी," माँ ने एक वेदनापूर्ण चीत्कार की। उसकी यह चीत्कार हृदय के पार हो गई। मैं तड़प उठा। सामने एक कोने में एक डण्डा पड़ा था। मैंने वह डंडा उठाया और पिताजी के सिर पर दे मारा।

रक्त की एक फुहार उनके सिर पर फूटी और वह चक्कर खाकर गिर पड़े। हमने उनको उठाया और दवा-दारू की। मगर इसका असल बात से कोई सम्बन्ध नहीं, इस कारण इस विषय को यहीं छोड़ता हूँ और यह बतलाता हूँ कि पिताजी पर इसका क्या प्रभाव हुआ।

उनमें उस दिन से एक विचित्र परिवर्तन होने लगा। प्रातःकाल ही घर से निकल जाते और रात गये घर वापस आते। अब वह मद्यपान करके न आते। या तो उन्होंने मद्यपान छोड़ दिया था या नशा उतरने के बाद घर आते हों। दबे पाँव घर में घुसते। चुपचाप भोजन करते और बिना हमसे बोले-चाले सो जाते। प्रायः ऐसा होता कि रात को वह मेरे सो जाने के बाद आते और प्रातःकाल ही मेरे उठने से पहले निकल जाते।

एक अवधि तक हम दोनों ने एक-दूसरे की सूरत ही नहीं देखी। एक दिन मुझे देखकर उनके चेहरे की यह दशा हुई कि उन पर एक रंग आता एक जाता। ऐसा जान पड़ता जैसे उनके भीतर कोई बैठा है और चेहरे के भाव बदलने का बटन जल्दी-जल्दी दबा रहा है। फिर यकायक उनका चेहरा लाल होकर भभक-सा उठा, जैसे ज्वालामुखी फट पड़ने को हो और एक झटके के साथ सहसा धरती पर आ गिरे। मैं घबरा गया। माँ को पुकारा। लगभग दस मिनट तक विभिन्न उपचार करने के पश्चात् वह सचेत हुए, परन्तु इस दशा में कि हमें घूर-घूरकर देखने लगे जैसे पहचानते ही नहीं। कई बार निगाह जमाकर देखने के पश्चात् उन्होंने अपनी आँखें मलीं, फिर चिल्लाकर पूछने लगे, "तुम कौन हो ?" मैंने हैरान होकर कहा, "मैं, मैं ? ······आपका बेटा हूँ।" मैं और माताजी दोनों विस्मय से एक-दूसरे का मुँह देखने लगे, सत्य पूछा जाय तो थोड़े समय के लिए हमारे होश गुम हो गए। मेरे पिताजी का दिमाग खराब हो चुका था।

गाँव में कोई डॉक्टर नहीं था और जरूरत भी नहीं समझी जाती थी। तुरन्त आवश्यकता की दशा में किसी डॉक्टर को बुलाने के लिए पास के नगर में जाना पड़ता था, जो गाँव से पन्द्रह मील के फासले पर था। डॉक्टर को आने-जाने के लिए ताँगे की आवश्यकता होती। इस पर कम-से-कम दस रुपये का व्यय होता, दवा-दारू का खर्च अलग।

इस खर्च की कोई सीमा नहीं थी। दवाइयों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। फिर डॉक्टरों के पास पानी की कमी नहीं थी। जितना चाहें उतना दवा में पानी मिला सकते हैं, मूल्य जो चाहें प्राप्त कर सकते हैं। टीके लगाते समय पिचकारी में पानी डालना कोई विशेष बात न थी। मध्यम श्रेणी के व्यक्ति को डॉक्टर के बुलाने का साहस नहीं होता था। रोगी को उसके भाग्य पर छोड़ दिया जाता। गाँव के साहू-कार का लड़का बीमार हुआ तो आठ सौ रुपये खर्च हुए। हम इतना रुपया कहाँ से लाते ! नगद तो कुछ भी पास नहीं था। कुछ जमीन थी,

कुछ गहने थे। जमीन से भोजन इत्यादि चलता था। गहने मेरी माँ ने अपनी पुत्रवधू के लिए रख छोड़े थे। एक भैंस भी थी। उसके दूध-दही को बेचकर ऊपर का खर्च चलाते थे। फिर भी पिताजी का इलाज कराना आवश्यक था। इलाज धन के बल पर हो सकता था। धन इन वस्तुओं में से किसीको बेचकर ही प्राप्त किया जा सकता था। ज़मीन बेचना या गिरवी रखना भूखों मरने का चिह्न था। भैंस बेचने से आय का एक आवश्यकीय भाग समाप्त होता था।

इलाज प्रारम्भ हो गया। दो माह तक डॉक्टर साहब दवाइयाँ देते रहे। रुपया सब समाप्त हो गया, परन्तु रोगी को लाभ नहीं हुआ। डॉक्टर साहब ने विश्वास दिलाया कि रोगी अवश्य ठीक हो जायगा। घबराने के स्थान पर हमें रुपये का प्रबन्ध करना चाहिए। रुपये का प्रबन्ध किया गया। भैंस बेच दी गई, परन्तु अब भी कुछ न बना और रुपये की आवश्यकता पड़ी। माँ ने साहूकार के घर नौकरी कर ली।

साहूकार का नाम लाला ज्ञानचन्द था। उसका बाप एक सेठ का मुनीम था, लेकिन ज्ञानचन्द अपने बाप से ज़्यादा समझदार था। उसने किसानों को ब्याज पर रुपया देना प्रारम्भ किया। थोड़े समय में रुपया दस गुना हो गया। किसान में साहूकार को झुठलाने या मुकद्दमा लड़ने की हिम्मत नहीं होती थी। वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी कर्जा चुकाता रहता है। ज्ञानचन्द अब सत्तर से ऊपर था। उसका शरीर सूखा-सा था, परन्तु उसकी आसामियाँ हरी-भरी थीं। उसने पाँच सौ एकड़ जमीन पैदा कर ली थी। बैंक में काफी रुपया जमा था। कितना? यह कोई बता न सकता था। कोई कहता बीस हजार, कोई कहता बीस लाख। ज्ञानचन्द का निजी खर्च कुछ न था। पोशाक पर दो रुपये से अधिक व्यय न करता था। दूध इस कारण नहीं पीता था कि कब्ज हो जाती है। घी इसलिए नहीं खाता था कि अजीर्ण हो जाता है। फल गाँव में मिलते ही नहीं थे। 'हरी शाक-भाजी का रिवाज न था। ले-देकर दाल-रोटी बनती थी। इसके साथ वह प्याज़ खाने का अवश्य प्रेमी था, परन्तु

प्याज़ मोल लेने की आवश्यकता न होती। आसामी जानते थे कि सेठजी को प्याज़ से प्रेम है, मुफ्त में दे जाते थे।

शहर वह कभी ताँगे में बैठकर नहीं गया था और शहर में जाकर भी ताँगे का प्रयोग नहीं किया। वहाँ खाने-पीने पर भी कुछ व्यय नहीं करता था। घर से रोटी बाँधकर ले जाता और स्टेशन के नल के पास बैठकर खा लेता। जितना पेट में आता खा लेता, बाकी बचाकर ले आता। अधिकतर मुकद्दमे के लिए वकील भी कम ही करता। अपना मुकद्दमा स्वयं ही लड़ लेता।

सेठजी के अपनी कोई सन्तान नहीं थी। उनका एक भतीजा था, ध्यानचन्द, जो देखता था एक आँख से परन्तु खर्च करता था दोनों हाथों से। इसकी मित्र-मण्डली बड़ी संख्या में थी। ठेके की मदिरा सस्ती मिलती थी और मिलने में भी कोई बाधा नहीं थी। कभी नगर जाता तो न अकेला जाता और न पैदल। कम-से-कम दो ताँगे इष्ट-मित्रों से भरकर ले जाता और ये सब नगर के अच्छे-से-अच्छे होटल में जाकर निवास करते।

ध्यानचन्द का विवाह हो चुका था। दो बच्चे भी थे, परन्तु पत्नी विशेषतया मैके में ही रहती थी और बच्चे उसके साथ। जीवन में जो शून्यता थी उसे ध्यानचन्द किसी और प्रकार से पूर्ण करता रहा। उपर्युक्त ऐसे भले गुणों के बावजूद भी ग्रामवासी उससे तनिक भी क्षुब्ध न थे, प्रत्युत् वे इससे बहुत अधिक प्रसन्न थे। कारण यह कि वह इनके लिए मनोविनोद का सामान जुटाता था। होली पर नगर से रंडियाँ बुलवाता, जिनके कारण गाँव में दस-पन्द्रह दिन तक खूब चहल-पहल होती थी। रुपया ध्यानचन्द खर्च करता और मजे लेते गाँव वाले। वह कभी-कभी दंगल भी कराता, जिसमें दूर-दूर के नामी पहलवान बुलवाता। नियमित रूप से प्रतिदिन सायंकाल ग्रामोफोन बजाकर गाने सुनाता।

माँ को ज्ञानचन्द के यहाँ से बीस रुपये महीना, दोनों समय का खाना और एक मन गेहूँ मिला करता था। चाकरी इतनी कठिन थी कि भोर

उठती और अर्धरात्रि से पूर्व छुट्टी न मिलती। सेठानी जी ने यह नियम बना रखा था कि नौकरों को एक बूँद दूध और एक अँगुली घी भी न दिया जाय। नौकर घी-दूध खायें तो मानो कलयुग आ गया। सेठ अधिकतर घर पर ही रहता, ताकि घरवालों को खाने-पीने के मामले में फिजूलखर्ची न करने दे। दाल पकते ही हाँडी में बार-बार पानी डालता ताकि दाल की मात्रा बढ़ जाय। बासी रोटी सँभाल-सँभालकर रखता और सबको आग्रह करके खिलाता। कुत्तों को घर में न घुसने देता, कहीं उनके आगे झूठन डालने की बुरी आदत न पड़ जाय और इस प्रकार फिजूलखर्ची का एक रास्ता निकल आए। इसी तरह बिल्लियों को भी घर में घुसने से रोकने की तरफ उसका खास ध्यान रहता था। चूहों को रोटी इत्यादि से भागने से रोकने के लिए पिंजरे रख छोड़े थे। भिखारियों का स्वागत वह लम्बी-लम्बी गालियों से करता था और कभी-कभी डण्डों से भी। गालियों का सदाव्रत बाँटना उसका नित्य-प्रति का काम था और एक प्यारा व्यवसाय।

ऐसे उदार और दानी की नौकरी की चक्की में पिसते-पिसते माँ का स्वास्थ्य बिगड़ गया। एक दिन मैं नगर से पिताजी की दवाई लेकर घर आया तो देखा माँ को तीव्र ज्वर है। उनका बदन जल रहा था और जैसे तेज बुखार से चेतनाहीन थीं। कभी वह ज़रा-सी घबराहट से जोर-जोर से चिल्लाने लगती थीं। पिता जी ऐसे अवसर पर उनकी ओर देखने लगते और बड़ी देर तक टकटकी बाँधे उनके चेहरे को इस तरह गौर से देखते रहते, जैसे पहचानने का प्रयत्न कर रहे हैं।

शाम होते-होते माँ की हालत बिगड़ने लगी। कोई युक्ति काम न आ सकी। डॉक्टर को पन्द्रह मील दूर शहर से बुलाना बहुत कठिन काम था। गाँव में तोतामल मिस्त्री कुछ दवादारू जानता था। मैं उसे बुलाने चला और चलते समय अपने पिता को सम्बोधित करके कहा, "मैं तोतामल को बुलाने जा रहा हूँ तुम ज़रा····।" कहते-कहते ध्यान आया कि यह तो पागल हैं, यह क्या देखभाल करेंगे। परन्तु दूसरे ही पल मुझे

देखकर अचम्भा हुआ कि पिताजी 'अच्छा' कहकर उठे और माँ की खाट के पास जाकर बैठ गए।

मैं विस्मित हो गया। जब तोतामल को साथ लेकर आया तब जो-कुछ भी देखा उससे और भी हैरान हुआ—पिताजी ने माँ को चारपाई से उतारकर जमीन पर लिटा रखा था। उनका सिर अपनी जाँघ पर रखे थे और उनके मुँह में पानी टपका रहे थे। उन्होंने नजर उठाकर मेरी तरफ देखा। उनकी आँखों में आँसू थे और उनकी वे निगाहें न जाने क्या कह रही थीं, उनमें पश्चात्ताप भी था और······और·······।

परीक्षा

परीक्षा

"दर्शनसिंह, अब तुम्हारी बारी है," मैंने कहा।

"लीजिए मैं आपको एक सत्य कथा सुनाता हूँ।"

हमने अपनी-अपनी कुर्सियाँ उसके समीप कर लीं। वह कहने लगा—

यह दस वर्ष की बात है। वे आनन्दनगर में मेरे घर के ऊपर के भाग में रहते थे। सुखनयनसिंह फौज में कप्तान थे। उनकी पत्नी के साथ उनकी बहन भी रहती थीं। इन दोनों की आकृति में बहुत-कुछ सादृश्य था। अपने लावण्यमय सौन्दर्य, हरिणी के समान सुडौल और विशाल नयन तथा उन्नत शरीर के कारण वे आनन्दनगर की अन्य ललनाओं से कहीं बढ़-चढ़कर थीं। उनकी वेश-भूषा भी सदैव एक समान रहती थी। एक रंग की शलवार और कमीज, एकसा ही दुपट्टा, एक-ही तरह के चप्पल। वे ऐसे मालूम होती थीं कि एक ही साँचे में से दो कला-मूर्तियाँ ढाली गई हों।

जब वे बाजार से गुजरतीं तो दुकानदार अपने-अपने कामों को स्थगित-सा कर देते, राहगीर स्तब्ध-से हो जाते और ताँगे थम-से जाते।

अनगिनती निगाहें इन चलती-फिरती रूप-प्रतिमाओं पर जम जातीं। ऐसा मालूम होने लगता मानो सभी किसी मन्त्र के प्रभाव से सुध-बुध भूल गए हों। लोगों को विश्वास न होता कि ऐसा सौन्दर्य किसी जीवधारी के लिए प्राप्य हो सकता है, विशेषतः मर्त्यलोक में। वे

अवश्य स्वर्ग की अप्सराएँ थीं। उनके दर्शनमात्र से ही असंख्य आहें वायु-मण्डल में बिखर जातीं और आकाश की ओर उड़ने लगतीं, कदाचित् कृतज्ञता के कारण। केवल ध्यानपूर्वक देखने से ही पता चलता कि बड़ी कौन है और छोटी कौन। बड़ी का नाम चन्द्रलेखा था और छोटी का नाम चित्रलेखा।

आनन्दनगर की युवक-गोष्ठियों में उन दिनों केवल एक ही चर्चा थी। चित्रलेखा के रूप-लावण्य के अतिरिक्त उन्हें कोई और विषय न भाता था। उनमें से प्रत्येक अपने को उसका प्रेमी समझता था। वे उसके घर से बाहर निकलने के समय से परिचित रहते थे। छोटे-छोटे समूहों में वे बाजार में खड़े हो जाते और उन अमूल्य क्षणों की प्रतीक्षा करते जब चित्रलेखा अपनी भगिनी के साथ बाहर निकलती।

ये युवक आनन्दनगर के बाहर के किसी भी नागरिक का चित्रलेखा के विषय में बात करने का अधिकार न मानते थे। उनके लिए यह बात असहनीय थी कि बाहर का कोई भी व्यक्ति चित्रलेखा के विषय में सोच भी सके। वे उसे अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति समझते थे।

एक दिन नवयुवकों की एक ऐसी ही गोष्ठी में एक ने उठकर कहा—

"आप लोगों को विदित होना चाहिए कि एक भीषण दुर्घटना होने वाली है।"

"क्या ?" नरेश ने पूछा।

"कहीं से एक मतवाला प्रेमी आ धमका है," रामप्रकाश बोला।

"निपट लेंगे," नरेश कुमार ने विश्वास के साथ गरदन हिलाते हुए कहा।

उस दिन ही शाम को उन लोगों ने उस प्रेमी को देखा। वह डील-डौल में उनमें से किसी से कम न था। बलिष्ठ देह, लम्बे कद तथा विशाल वक्षःस्थल के कारण, साँवले रंग का होते हुए भी, वह सुन्दर तथा आकर्षक था।

उन्हें उसके विषय में साथियों से और बातें विदित हुईं। उन्हें पता

चला कि जब चित्रलेखा की कालेज की मोटर उसे लेने आती है, तो वह उनके घर के नीचे सड़क पर बैठा हुआ दिखाई देता है। जब वह कालेज से बाहर निकलकर मोटर में सवार होती है तो वह कालेज के सामने खड़ा हुआ मिलता है। जब वह बाजार को जाती है अथवा सैर करने निकलती है तो वह उसके घर के सामने बैठा हुआ होता है और उसके कालेज से लौटने पर भी वहीं बैठा नज़र आता है। वह किसी से कुछ नहीं बोलता, न हँसता, न मुस्कराता है। उसकी आकृति पर एक विशेष प्रकार का गाम्भीर्य होता, उसके नेत्रों में एक उत्साहमय प्रकाश होता।

उस दिन के बाद कई युवक-गोष्ठियाँ हुईं। अब विषय चित्रलेखा नहीं, नया प्रतिद्वन्द्वी था। उसके दुस्साहस पर बहस होती और उसके व्यवहार पर आलोचनाएँ होतीं तथा उससे मुकाबला करने के तरीकों पर शास्त्रार्थ होता।

"यह सारे आनन्दनगर को चुनौती है," सतीश ने सभा में अपनी छोटी-छोटी मूँछों पर उँगलियाँ फेरते हुए कहा।

"क्या इस चुनौती को स्वीकार करने का यहाँ किसी में साहस नहीं ?" नरेश ने उठकर पूछा और चारों ओर दृष्टि दौड़ाई।

सब नीचे निगाह डाले बैठे रहे।

"क्या कोई भी तैयार नहीं ?"

कोई उत्तर न मिला।

"तो मैं इसे स्वीकार करता हूँ।"

सब मौन रहे, जैसे किसी को इस निश्चय पर गर्व अथवा हर्ष नहीं हुआ।

इसलिए नहीं कि नरेश उनसे बाज़ी ले जायगा, बल्कि इसलिए कि ऐसे प्रतिद्वन्द्वी का मुकाबला करना नरेश के लिए भी कठिन था। उसकी हार सारी बस्ती की हार थी और कोई भी इस बात को उदासीनता से स्वीकार करने को तैयार न था।

सायंकाल को नवयुवकों की उस मतवाले प्रेमी से भेंट हो गई। वह

सफेद कमीज तथा सफेद पतलून पहने था और पाँव में चप्पल। उसके पास जाकर नरेश दूसरे लड़कों को भी सम्बोधित करके बोला—

"क्यों भाई, सुना है यहाँ एक नये मतवाले आशिक आये हैं।"

"अरे यार न जाने ऐसे कितने आशिक घास चरते-फिरते हैं," एक ने कहा।

"परन्तु इन्हें प्रेमिका से तो पूछ लेना चाहिए था," दूसरा बोला।

"सुना है उसने श्रीमानजी के लिए नये चप्पल बनवाये हैं," दिलावर ने कहा।

उसका विचार था कि इस वाक्य से वह चिढ़ जायगा, उन्हें ललकारेगा और फिर······परन्तु वह टस-से-मस न हुआ। क्या उसने उस वाक्य को नहीं सुना था? अवश्य सुना था। तो फिर वह आवेश में क्यों नहीं आया? कदाचित् उसमें आवेश था नहीं, अथवा डर गया था। यदि इन बातों से ही डर गया तो एक ही दिन में निकाल फेंक दिया जा सकता है, जैसे दूध में से मक्खी।

युवकों का समूह उसके पीछे हो लिया—उस पर व्यंग करते हुए, उसका उपहास करते हुए। वह चित्रलेखा के घर की ओर जा रहा था, जहाँ वह बहुधा खड़ा नजर आता था। वह आराम से चला जा रहा था, इस व्यंग और उपहास से अप्रभावित। जब वह उसका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट न कर सका, तो तंग आकर नरेश ने उसे ललकारा।

"श्रीमान जी, ज़रा ठहरिए।"

"आपने मुझे सम्बोधित किया है?" उसने रुककर और लौटकर पूछा।

"और क्या तुम्हारे बाप को?" वायु में अट्टहास उठा।

"यदि आप उनसे मिलने के इच्छुक हैं तो उनसे भी मिला दूँगा। मेरे योग्य सेवा हो तो फरमाइए।" उसने अत्यन्त शिष्टता से कहा।

"फरमाइए क्या?" नरेश ने रोब जमाते हुए कहा।

"मनुष्यों की तरह बात कीजिए। यह लाहौर है, लखनऊ नहीं।"

"इस सूचना के लिए आपको धन्यवाद।" एक हल्की-सी मुस्कान उसके मुख पर झलक दिखाकर अदृश्य हो गई।

"आप यहाँ क्यों आते हैं?" दिलावर ने आगे बढ़कर पूछा।

"आपका मतलब है कि मेरे यहाँ आने पर कोई प्रतिबन्ध है?" उसने माधुर्यपूर्ण स्वर में पूछा।

"यदि नहीं है तो लगा दिया जायगा," भीम बोला।

"अभी तो नहीं?"

"देखिए साहब, आप इस मुहल्ले में नहीं आ सकते," नरेश ने तनकर कहा।

"यदि मुझे पुलिस भी रोकेगी, तो भी मैं आऊँगा।" उसने शान्त स्वर में कहा।

"जानते हो इसका परिणाम क्या होगा?"

"मैंने आज तक परिणाम की परवाह नहीं की है।"

"तो आपको लड़ना होगा।"

"किस कारण?"

"इसी बात पर।"

"खैर बात तो मेरी समझ में नहीं आई। यदि आप मुझे स्वाधिकार से वंचित रखना चाहते हैं तो इसकी रक्षा करने के लिए मैं सदैव प्रयत्नशील रहूँगा। यदि आप झगड़ा करने पर उतारू हैं तो यह बेकार-सी बात है, परन्तु मुझे इन्कार भी नहीं। हाँ इतना कहे देता हूँ कि मुझे मुक्केबाजी, गतका तथा मल्लयुद्ध का अभ्यास है। मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि आप उसीको मेरे सम्मुख लाइए जो सशक्त हो। बाद में यह शिकायत न रहे कि बराबर की जोड़ी न थी।"

सब पर सन्नाटा छा गया। यह पूर्णतया व्यक्त था कि उसका हृदय बोल रहा था। उसके शब्दों में आडम्बर तथा ढोंग का आभास तक न था। वह अपनी धुन का पक्का नज़र आ रहा था। बात भी तो वह ठीक कह रहा था। उसकी गतिविधि पर कौन प्रतिबन्ध लगा सकता था?

वह अपने अधिकारों को जीवित रखने के लिए युद्ध करने को तैयार था। उसकी हठधर्मी ने जैसे सबको प्रभावित कर दिया। उससे लड़ना निरर्थक था, झगड़ना बेकार। तो क्यों न उसे भी अपने गुट में सम्मिलित कर लिया जाय ? नरेश ने आगे बढ़कर कहा—

"आपसे मिलकर बहुत हर्ष हुआ। आज से आप हमारे मित्र हैं।" और उसने अपना हाथ आगे बढ़ाया।

नवयुवक ने तुरन्त अपना लौह के समान मजबूत हाथ उस हाथ में डाल दिया और अत्यन्त सौहार्द से बोला—

"आप लोगों से मिलकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। मैं अपने-आप को भाग्यशाली समझता हूँ कि आपने मुझे मित्रता के योग्य समझा।"

फिर उसने बारी-बारी सबसे हाथ मिलाया।

"परन्तु आपका नाम पूछना तो भूल ही गए।"

"केशव।"

केशव की दृढ़ निश्चयता, साहस तथा वीरता के कारण वह प्रेमियों तथा नवयुवकों का शिरोमणि बन गया। वह मितभाषी था, परन्तु जब बोलता तो दूसरों को प्रभावित कर देता। उसके साहस और वीरता की कहानी सारे मुहल्ले में फैल गई।

सबको इस बात का पता था कि केशव चित्रलेखा का प्रेमी है, वह उसे प्राप्त करने के लिए प्रत्येक बलिदान देने को तैयार है। यदि वह विवाह करेगा तो उसी से, नहीं तो आमरण अविवाहित रहेगा।

सुखनयनसिंह छुट्टी पर घर आये तो सारे मामले की सूचना पाकर क्रोधित हो उठे। उनकी मर्यादा मिट्टी में मिल रही थी। सारे नगर में इसी बात की चर्चा थी और इसका दायित्व उसी बदमाश पर था। उनकी क्रोधाग्नि प्रचण्ड हो उठी और उन्होंने उससे बदला लेने का पूर्ण निश्चय कर लिया।

चन्द्रलेखा से उन्होंने कहा कि मैं उस हरामी को शूट कर दूँगा। उसने समझाया कि ऐसा करने से लाभ तो कुछ होगा नहीं, हाँ हानि

अवश्य होगी। क्योंकि पुलिस तो ऐसे अवसर की खोज में रहती है, वकीलों की बन आती है और जजों को न्याय करना ही होता है। सुखनयनसिंह नर्म तो अवश्य पड़ गए परन्तु हृदय-ज्वाला शान्त न हुई। वह कई दिन तक इस बात पर विचार करते रहे।

जब वह केशव को देखते तो उनका रक्त खौलने लगता। जी में आता उसका गला घोंट दूँ, परन्तु जानते थे कि केशव है, मुर्गा नहीं। उसके विषय में सब बातें भी सुन चुके थे।

एक दिन उनके मुख पर हर्ष-चिह्न देखकर चन्द्रलेखा ने कहा—

"क्यों, क्या कुछ उपाय सूझा ?"

उस दिन जब केशव मकान के नीचे पहुँचा तो कप्तान साहब का नौकर उसके पास जाकर बोला—

"आपको ऊपर बुला रहे हैं।"

"मुझे ?" उसने आश्चर्यान्वित होकर पूछा, "शायद तू भूल कर रहा है।"

"ठीक कहता हूँ।"

वह ऊपर आया। रामा उसे बैठक में ले गया।

कितना सुन्दर कमरा था ! सारे कमरे की लम्बाई का एक अत्युत्तम कालीन बिछा था और उस पर दो सोफा सेट थे। बीच में इटली का बना हुआ सेंट्रलपीस था। दीवारों पर आर्ट चित्र लगे हुए थे। एक ओर इटली के सुप्रसिद्ध कलाकार का निर्मित 'लास्ट सपर' लटका था और दूसरी ओर सूर्योदय का एक मनोहर चित्र था। अँगीठी जल रही थी। दीवार पर एक लम्बी तलवार लटक रही थी और उसके पास एक राइफल।

कुछ क्षण पश्चात् गृहपति ने कमरे में पदार्पण किया। कितना भरा हुआ शरीर था, जैसे अब तक उन्होंने शरीर को सुगठित बनाने के अतिरिक्त कोई और काम ही न किया था। गोरे मुँह पर काली मूँछें और काली दाढ़ी खूब फब रही थी। पगड़ी ऐसी लग रही थी जैसे जन्म

से लेकर ही उसी प्रकार बाँधी गई हो। उन्होंने अन्दर आते ही नवयुवक से गम्भीरतापूर्वक पूछा—

"क्या आपका नाम केशव है ?"

"जी।"

"बैठिए।"

वह दाईं ओर सोफे पर बैठ गया। कप्तान साहब सामने सोफे पर बैठ गए।

"आपको पता है कि आपने मुझे नगर में कितना बदनाम कर रखा है ?"

"मैंने आपको बिल्कुल बदनाम नहीं किया।" उसने शान्त तथा गम्भीर स्वर में कहा।

"क्या यह सच है कि आप चित्रलेखा को बुरी नजर से देखते हैं ?"

"मैं उन्हें अत्यन्त प्रतिष्ठा की नजर से देखता हूँ।"

"परन्तु आप नहीं जानते कि सारे नगर में इस बात से कितनी बदनामी है कि आप उसे प्यार करते हैं ?"

"यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि यहाँ प्रेम को बदनाम किया जाता है।"

"आपके विचार में किसी लड़की के विषय में अपवित्र विचार रखना अच्छी बात है ?"

"प्रेम और अपवित्रता का परस्पर कोई मेल नहीं।"

"परन्तु आप यह नहीं सोचते कि उस लड़की का जीवन नष्ट हो जायगा। उसकी बदनामी होने से कोई उसके साथ विवाह नहीं करेगा। आप उसका विचार छोड़ दीजिए।"

"प्राण त्याग सकता हूँ, परन्तु उसका विचार नहीं त्याग सकता।"

"आप शायद प्राण का मूल्य नहीं समझते ?"

"खूब समझता हूँ।"

"अच्छा," सरदारजी पैंतरा बदलकर बोले, "परन्तु यदि लड़की

आपसे प्रेम न करती हो, आपसे घृणा करती हो और वह आपके सामने आकर यह सब कह दे तो·······?"

"इससे क्या होगा ?" वह उपेक्षा भाव से बोला, "प्रेम कोई सौदा तो नहीं। इसमें यह आवश्यक नहीं कि वह मेरा प्रेम लौटाए, तभी मैं उससे प्यार कर सकता हूँ। सच्चा प्रेमी प्रेम लेने की अपेक्षा प्रेम देना ही अपना धर्म मानता है। जब तक मैं प्रेम करता हूँ, मुझे और किसी बात से सम्बन्ध नहीं। यदि मेरा प्रेम नहीं लौटता तो इसमें मेरा क्या दोष है ?"

"क्या आप सिद्ध कर सकते हैं कि आपका प्रेम सच्चा है ?"

"इससे क्या होगा ?"

"मैं आपके प्रेम की परीक्षा लेता हूँ। यदि आप उसमें उत्तीर्ण हो गए तो चित्रलेखा आपकी हो जायगी।"

"चित्रलेखा, मेरी !" वह हर्ष-विह्वल हो उठा। फिर शीघ्र ही गम्भीर होकर बोला, "सरदारजी, जल्दी न कीजिए। ऐसा न हो कि बाद में पछताना पड़े। फिर सोच लीजिए।"

"मैं सोच चुका हूँ। यदि आप अनुत्तीर्ण हुए तो आपको सौगन्ध खानी पड़ेगी कि आप उसका भूल से भी नाम न लेंगे और न कभी इधर आयेंगे।"

"स्वीकार है।"

सरदारजी उठे और उसे उठने का संकेत किया। अंगीठी के पास जाकर बोले—

"मैं आपके हाथ पर जलते हुए कोयले रखता हूँ। यदि आप सहन नहीं कर सके तो आपको हार माननी पड़ेगी।"

"स्वीकार है, परन्तु आपको मेरी एक प्रार्थना स्वीकार करनी होगी।"

"चित्रलेखा को यहाँ बुलवा लूँ।"

"हाँ, परीक्षा है न।"

"अवश्य वे दोनों बहनें यहाँ आयेंगी।" और वे कमरे में प्रविष्ट हुईं।

चित्रलेखा को देखते ही केशव मन्त्रमुग्ध-सा खड़ा हो गया और कुछ क्षण उसकी ओर देखता रहा, फिर शीघ्र ही सँभलकर बोला—

"सरदारजी, शीघ्रता कीजिए।" और हाथ आगे फैला दिया।

नारियों का हृदय काँप उठा। सहसा उनके होठों से चीत्कार सुनाई दी।

"यदि तुम लोगों को शोर मचाना है तो कमरे से बाहर चली जाओ," सरदारजी रोब के साथ बोले।

माँस सड़ने की दुर्गन्ध कमरे में फैलने लगी। स्त्रियों ने नाक में रूमाल रख लिए। जलते हुए कोयले अपना काम कर रहे थे। केशव सहनशीलता की मूर्ति बना खड़ा था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे उसका नहीं, किसी दूसरे का हाथ जल रहा है। कप्तान साहब अपूर्व विस्मय से कभी केशव के मुख की ओर, कभी उसके हाथ की ओर देख रहे थे। माँस अवश्य जल रहा था, परन्तु केशव की सहनशक्ति को देखकर उन्हें यह विचार हो रहा था कि इसे जादू करना आता है।

चित्रलेखा और चन्द्रलेखा का बुरा हाल हो रहा था।

सहसा चित्रलेखा ने आगे बढ़कर केशव के हाथ को झंझोरकर कोयलों को गिरा दिया और सरदारजी की ओर चिल्लाकर बोली—

"आप खड़े क्या देख रहे हैं? डॉक्टर को क्यों नहीं बुलवाते?"

